मंगल-ज्योति

[राष्ट्रीय प्रेरणादायक सोलह ललित निबंध]

लेखक

हिमांशु श्रीवास्तव

प्रकाशक

नारायण प्रकाशन मन्दिर

वा रा ण सी - १

प्रकाशक

नारायण प्रकाशन मन्दिर

कमच्छा, वाराणसी-१

प्रथम संस्करण : नवम्बर १९८३ ई०

मूल्य : तीन रुपए ।

मुद्रक

काशीनाथ गुप्त

श्री सीताराम प्रेस, वाराणसी

अनुक्रमणिका

● ● ●

१. मातृभूमि की जय

"यदि तुम्हारी इच्छा फूलों से सजे सिंहासन पर बैठने की है, तो वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग में जितने भी काँटे पड़े मिलें, सबको अपने पैरों से रौंद डालो।"

—लिंकन

सैनिकों की बख्तरबंद गाड़ी आगे निकल गई। जो सैनिक रास्ता बने थे, वे देखते-देखते पिस गए, पर उनमें से किसी ने नहीं कहा—

जापान की जय !

टोकियो की जय !!

मातृभूमि की जय !!!

लेकिन, ऐसा क्यों ? सैनिकों ने नारे क्यों नहीं लगाये ? शत्रु-शिविर तो यहाँ से काफी दूर था। ऐसा भय तो नहीं था कि यह जय-ध्वनि वे सुन लेंगे और सतर्क हो जाएँगे।

उत्तर स्पष्ट है, उनके इस मौन का।

इस जय की भावना को सैनिकों ने उच्चारण में नहीं, आच-

रण में चरितार्थ किया। उनके इसी आचरण ने आधुनिक शस्त्रों से लैस संपूर्ण अमरीकी सैनिकों को दिन में ही तारे दिखला दिये। और, तब विवश होकर तत्कालीन अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपनी वायुसेना को आदेश दिया—'अविलंब ऐटम बम गिराया जाए।'

घटना गत अमरीका-जापान युद्ध की है। दोनों देश शस्त्र और सैनिक के माध्यम से जूझ रहे थे। दोनों पक्षों ने सोच लिया था—इस पार या उस पार। युद्ध-यात्रा के दौरान अनेकों बार ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण मौके आते, जब जापान की सैनिक-टुकड़ी आगे बढ़ती होती। रास्ते ऊबड़-खाबड़ मिलते, दलदल मिलते। शीघ्रता को ध्यान में रखते हुए, साधनों का अभाव होने पर, कुछ सैनिक ही ठोस रास्ता बन जाते। यानी पीठ के बल, बख्तरबंद गाड़ियों के दोनों अगले पहियों की सीध में, सैनिक सो जाते और उनसे होकर ऐसी गाड़ियाँ झट आगे बढ़ जाती थीं। जापान की धरती पर जनमा शरीर जापान की धरती में मिल जाता। इन रास्ता बने सैनिकों की आत्माएँ अशरीरों की दुनिया में चली जातीं।

जापान पर जब आफत आई थी, तब जापानवासियों ने इस प्रकार जापान की जय मनायी थी। जापानवासी इसलिए कहा कि सैनिक तो अंततः जापानी ही थे। जापान उनका था, वे जापान के थे।

हमारे देश में भी विभिन्न शब्दों के हेर-फेर के माध्यम से स्वदेश की जय मनायी जाती है। हम कहते हैं :—

भारतमाता की जय !

हिंदुस्तान, जिंदाबाद !!

मातृभूमि की जय !!!

गत् २० अक्टूबर, ६२ को जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तब संभवतः तीन-चार रोज बाद रेडियो स्टेशन के एक उच्च अधिकारी ने मुझे फोन किया—"देश के लोगों में त्याग की भावना और राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए हम एक सीरिज आरंभ करने जा रहे हैं। पहला रूपक आप ही लिखें।"

मैंने पूछा, "अवश्य लिखूँगा, मगर किस विषय पर ?"

उत्तर मिला, "विदेशों से आधुनिक शस्त्रास्त्र खरीदने के लिए हमें सोने की आवश्यकता है। आप 'स्वर्णदान' लिख दें।

फोन पर बातचीत समाप्त हो गई, तो एक मित्र ने, जो कांग्रेस को पसंद नहीं करते, पूछा, "क्या लिखना है ?"

मैंने उन्हें सारी बातें बतला दीं, तो बोले, "अब लाएँ नेहरूजी हथियार, हमें इससे क्या मतलब ? और तुम भी तो नेहरूजी के आलोचक हो। क्या हो गया है तुम्हें, जो ऐसी चीजें लिख कर उनकी ही नीति का समर्थन करोगे ?"

उत्तर में मैंने सिर्फ इतना ही कहा, "नेहरूजी तो हमारे देश के एक वरिष्ठ प्रतिनिधि मात्र हैं। भारत के मालिक तो चौवालिस करोड़ लोग हैं। मेरी कलम पर नेहरूजी का अधिकार कैसा ? सवाल तो भारत की अखंडता की मर्यादा का है। मातृभूमि पर आँच न आने पाये ! नेहरूजी तो घर के ही आदमी हैं, फिर

कभी उनके खिलाफ बोलूँगा। मगर अपनी माइक पर, दुश्मन की माइक पर कभी नहीं।"

मित्र महोदय मौन रह गए। मगर, आप विचार कीजिए कि ऐसी भावना को हृदय में रख कर आप मातृभूमि की जय कैसे बोल सकते हैं ? मैंने यह जानने की कोशिश नहीं की कि मेरा उत्तर मेरे मित्र महोदय को कैसा लगा। मगर, मुझे उनकी बातों से दुःख अवश्य हुआ। वे वयस्क थे और पढ़े-लिखे थे। उम्र में भी मुझसे बड़े थे। इसीलिए मैं संकोच कर गया। आप चाहें, तो अपने राष्ट्रपति को बदल सकते हैं, अपने प्रधान मंत्री को बदल सकते हैं, मगर देश को तो नहीं बदल सकते। कहा जा सकता है कि मेरे मित्र महोदय के इतना कह देने से भला क्या अनर्थ हो गया ? सवाल कहने का नहीं, सवाल ऐसी दुर्भावनाओं को हृदय में स्थापित करने का है। यदि भारत का अधिकतर जनसमुदाय ऐसी या इसी से मिलती-जुलती भावना पर अमल करने लगे, तब मातृभूमि की जय के नारे लगाने की क्या व्यापकता होगी, जय की यह महिमा किस त्वरा के साथ विखंडित हो जाएगी ? निश्चय ही हमें इस वर्त्तमान की स्थिति को समझने के लिए अतीत में जाना होगा, हमें इतिहास के खंडहरों से काल के अप्रत्यक्ष विश्लेषण को ढूँढना पड़ेगा और इतिहास हमें बतला देगा—राष्ट्रहित के विरुद्ध हमारे हृदय में जिस रास्ते से फूट और स्वार्थपरता आती है, उसी रास्ते से हमारी स्वतंत्रता और हमारी आत्मशक्ति चली जाती है।

'सत्य' शब्द का बार-बार उच्चारण करने की अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्व रखती है कि हम आचरण में सत्य को उतारें। आप वर्ष में एक बार भी यदि अपनी मातृभूमि की जय नहीं बोलते, तो आप कोई राष्ट्रीय अपराध नहीं करते। हाँ, आप राष्ट्रीय अपराध वहाँ अवश्य करते हैं, जहाँ आपके किसी भी आचरण से आपकी मातृभूमि की वास्तविक जय पर आँच चली आती है।

भारतीय फौज में मातृभूमि की जय बोलने का कोई नियम नहीं है। मगर, जब भारतीय प्रदेशों पर चीनी सैनिकों ने हमला किया, तब एक-एक इंच भूमि के लिए अपने प्राणों को बलि चढ़ा कर, भारतीय सैनिकों ने सच्चे अर्थों में मातृभूमि की जय मनायी। इस प्रकार की जय की भावना वस्तुतः बाहर से आरोपित नहीं होती, इसका मूल उत्स कर्त्तव्यपरायणता और आचरण होता है।

आप राष्ट्रवादी हैं, अपने राष्ट्र का भला चाहते हैं, अपने राष्ट्र का सर सदैव ऊँचा देखना चाहते हैं। यह तो बड़ी अच्छी बात है, अत्यंत शुभ कामनाएँ हैं आपकी। आपकी ये कामनाएँ राष्ट्रीय जय के विविध रूप हैं। मगर, आप इतना स्मरण रखें कि आपकी सतर्कता की मात्रा ही मातृभूमि की जय का निर्णायक होगी। आप देश की जड़ में जैसी खाद देंगे, आपको वैसी ही जय मिलेगी। यदि आप केवल मौखिक खाद देंगे, तो आपको

केवल मौखिक जय ही सुनायी पड़ेगी, वास्तविक जय आप नहीं देखेंगे। किसी ने सच ही तो कहा है—

हरचंद यह बात तुमसे कहने की नहीं।
कहता हूँ कि मुँह पर आई रहने की नहीं॥
ज़ाहिर में सफाई और दिल में कीना—
उलटी गंगा बहाओ, बहने की नहीं॥

यहाँ एक बड़ा ही अच्छा प्रसंग स्मरण आ रहा है। एक प्रसिद्ध उपन्यासकार ने किसी विश्वविद्यालय की गोष्ठी में भाषण किया। वहाँ बहुत-से नवयुवक उपस्थित थे। गोष्ठी में उपन्यासकार ने एकाएक नवयुवकों से प्रश्न किया, "बताइए, आप में से कौन लेखक बनना चाहते हैं ?"

उत्तर में सभी उपस्थित युवकों ने हाथ उठा लिये।

उपन्यासकार ने उन्हें एक बार गौर से देखा और कहा, "बहुत खूब ! किंतु, आप यहाँ खड़े क्यों समय नष्ट कर रहे हैं, जाइए और लिखिए।"

बस, यहीं से हम सबकी कहानी शुरू होती है। हम सभी अपने राष्ट्र को गौरवमय देखना चाहते हैं, किंतु हममें से कितने हैं, जो वस्तुतः भारत को गौरवमय बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ? इस पर तुर्रा यह कि हम सभी मातृभूमि की जय मनाते हैं। मगर, मातृभूमि की जय मनाने का यह मौखिक तरीका ठीक नहीं है। जय त्याग और बलिदान के मार्ग से आती है, मात्र शोर से वह घबड़ा जाती है।

घटना तब की है, जब भारत स्वाधीन नहीं हुआ था। कटक से दूर एक गाँव में विराट सभा थी। हजारों आदिवासी इकट्ठे हुए थे। बापू का भाषण था। उड़िया अनुवाद की व्यवस्था थी। पर, यों भी उनका संदेश समझने में लोग कठिनाई नहीं अनुभव कर रहे थे। हृदय से निकली वाणी हृदय में पैठती चली जा रही थी। सब उनके पावन दर्शनों से ही निहाल हो रहे थे; क्योंकि वे उस महान आत्मा को बुद्धि से नहीं, हृदय से पहचानते थे।

भाषण के अंत में बापू ने हरिजन-फंड के लिए लोगों से चंदा माँगा। पाई-पैसे की बारिश होने लगी। तभी भीड़ को चीरता हुआ एक लड़का मंच के पास आया और उसने एक लंबा, ताजा काशीफल बापू के सामने रख दिया। बापू ने उसे स्वीकार करते हुए पूछा, "कहाँ से लाये ?"

"मेरे छप्पर पर इसकी बेल है बापू !" लड़का बोला।

"इसे मुझे दे दोगे, तो आज सब्जी किसकी बनाओगे ?" बापू ने पूछा।

लड़के ने झट उत्तर दिया, "माँ ने कहा है कि इसे महात्माजी को दे आ। आज हमलोग बिना सब्जी के काम चला लेंगे।"

बापू मंच पर खड़े हो गए। उन्होंने काशीफल को ऊपर उठा लिया और उसे लोगों को दिखाते हुए बोले, "हमारा देश हजारों वर्षों से विदेशी आक्रमणों का सामना करते हुए भी टिका हुआ है, उसका कारण यह त्याग की शक्ति ही है। खुद न खाकर दूसरों को दे देने की भावना से ही दुनिया में मानवता टिकी हुई है।"

मातृभूमि की जय का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम इसकी जयजयकार मनायें या हम यह कहें कि हमारा देश संसार के समस्त देशों से सुंदर है, इसके भाल पर हिमालय शोभता है, चरणों में सिंधु लहरा रहा है, तारकरूपी मणिमाणक्य खचित नील अंबर के नीचे यह शोभा पा रहा है। मातृभूमि की जय मनाने और जय को स्थायी बनाने का अर्थ है—देश को सुखी और समृद्ध बनाये रखना।

मेरी नजर में वह व्यक्ति भारत की जय बोलता है, जो बिना टिकट कभी सफर नहीं करता !

मेरी नजर में वह व्यक्ति भारत के तिरंगे की जय बोलता है, जो सफर करते समय परिवहन की सामग्रियों को क्षति नहीं पहुँचाता !

मातृभूमि की जय बोलने वाला सच्चा व्यक्ति वह है, जो समय को अपना स्वामी स्वीकार करता है।

मातृभूमि की जय वही व्यक्ति बोलता है, जो हर रोज थोड़ा समय निकाल कर यह सोचता है कि आज उसने कोई ऐसी भूल तो नहीं की, जिससे देश-हित को कोई नुकसान पहुँचता हो।

अपने राष्ट्र की जय वही व्यक्ति बोलता है, जो राष्ट्रीय संकट को व्यक्तिगत संकट समझता है।

स्वाभाविक है कि गणतंत्र देशों में सत्ताधारी दल की सरकार बनती है। पर, संसद और विधान सभाओं में विरोधी दल के लोगों को भी स्थान मिलता है। विरोधी दल के सदस्य सत्ताधारी

दल की खामियों का खुलेआम उल्लेख करते हैं। 'निंदक नियरें राखिए आँगन कुटि छवाये' यह बात यहाँ सार्थक सिद्ध होती है। अपनी भूलों की ओर संकेत पाकर सत्ताधारी दल अपने में सुधार लाता है। मगर, बहुत-से लोग ऐसे भी होते हैं, जो केवल विरोध करने के लिए विरोध करते हैं। निर्माण के लिए विरोध सार्थक होता है, केवल तिलमिलाहट पैदा करने के लिए विरोध निरर्थक होता है।

ऊपर जिस प्रकार की विरोध-नीति को मैंने निरर्थक बतलाया है, वैसे विरोध पैदा करने से मातृभूमि की जय को खतरा होता है। जो निर्माण के लिए विरोध करते हैं, वे ही मातृभूमि की जय बोलते हैं।

मातृभूमि की जय और कौन बोलता है ?

मातृभूमि की जय वह बोलता है, जो कर्मशील होता है, अकर्मण्य नहीं। जो राष्ट्रीय रथ को बल देता है, राष्ट्र का बोझ नहीं बनता।

अभी हाल में जब चीन ने भारत की सीमाओं पर भारी हमला किया, तब हमारे आदरणीय राष्ट्रपति ने देश में संकट-कालीन स्थिति की घोषणा की। संकटकालीन स्थिति की घोषणा क्या हुई, व्यापारियों ने समझा—लक्ष्मी दौड़ी चली आ रही हैं। लोगों के दैनिक उपयोग की सामग्रियों का मूल्य बढ़ा दिया। इसे मौके से लाभ उठाना नहीं, नैतिक स्तर को गिराना कहेंगे, मातृभूमि की जय पर आँच लाना कहेंगे।

और, मैंने ऐसे व्यापारियों को भी चीन के विरुद्ध बोलते सुना। मगर, इससे क्या हुआ ? देश की आर्थिक सामर्थ्य को पीछे खींच कर, अपनी तिजोरियों तक ही केंद्रित कर, कोरे शब्द-व्यय से मातृभूमि को बल कहाँ मिला ? देश को उनसे बल मिला, मातृभूमि को उनसे बल मिला, जिन्होंने आधुनिक शस्त्रों के लिए स्वर्णदान किया, सिपाहियों की प्राण-रक्षा के लिए रक्तदान किया और मातृभूमि की जय वे सैनिक बोले, जिन्होंने सीमा-रक्षा के लिए दुश्मनों से लड़ते हुए अपने प्राण दे दिये।

प्रश्न यह है कि हमारे यहाँ हर कोई इसी प्रकार राष्ट्र की जय, मातृभूमि की जय क्यों नहीं बोलता ?

उत्तर स्पष्ट है—राष्ट्रीय चेतना का अभाव।

जब कि सच यह है कि राष्ट्रचेतना ही वास्तविक नागरिकता का मूलाधार है। जिसमें राष्ट्रीय चेतना का अभाव है, वह नैतिक दृष्टि से तो हीन है ही, वह राष्ट्रोत्थान के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है। विश्व के जिन देशों ने विकास और उन्नति के शिखर चूमें हैं, उनके प्राण राष्ट्रचेतना ही रही है। सच पूछें, तो राष्ट्र-चेतना राष्ट्रप्रेम का ही पर्याय है। प्रत्येक देश का नैसर्गिक सौंदर्य, कलात्मक भवन, गौरवपूर्ण साहित्य एवं मानवतावादी संस्कृति, जाति, धर्म राष्ट्रचेतना के अभीप्सित विषय हैं। एक राष्ट्रविशेष में निवास करने वाले व्यक्ति का इनके प्रति अनुराग होना सहज स्वाभाविक है।

राष्ट्रीय चेतना के अभाव में, राष्ट्रीय विकास में सफलता

प्राप्त करना आसान बात नहीं, असम्भव है। हमें यह बात भली-भाँति ज्ञात है कि संसार के अनेक देश प्रमादवश या अज्ञानवश दासता की जंजीरों में आबद्ध हुए हैं। जो देश विकास करता हुआ इस स्थिति तक पहुँच गया कि अन्य देशों पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर सका—इसके मूल में उसका राष्ट्रीय चेतना से उद्‌बुद्ध संगठित प्रयास ही रहा होगा; यद्यपि मानवता की दृष्टि से यह विकास सच्चा विकास नहीं है। शक्ति की प्रबलता से प्राप्त सुविधाओं से दूसरे को अपने शासनपाश में बाँध लेना महानता नहीं; महानता है इस बात में कि किसी भी अन्य राष्ट्र को संकट पहुँचाये बिना अपने राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में समृद्धि लाना। महानता है, आवश्यकता पड़ने पर संकट में घिरे राष्ट्रों की सहायता करना। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यदि राष्ट्रचेतना की गहरी अनुभूति से एक जाति ने एक जाति को विजेता और दूसरी को विजित बनाया, तो विजित जाति ने भी विजेता जाति को राष्ट्रचेतना की भावना से ही परिमार्जित होकर पछाड़ा है। जिस प्रकार राष्ट्र-प्रेम विदेशियों के प्रति आक्रोश के रूप में व्यक्त हुआ है, वैसे ही देशगत अनाचारों और अत्याचारों के प्रति भी व्यक्त हुआ है। फ्रांस का राज्य-विप्लव, जो लुई-राजवंश के विनाश का कारण बना, वह राष्ट्रचेतना की ही दृढ़ भावना थी। अमरीका जब अंग्रेजों की दासता की शृंखला तोड़ने में समर्थ हुआ, तब भी यही राष्ट्रचेतना हिलोरें ले रही थी। रूस की जारशाही का अंत

और भारत का स्वतंत्रता-संग्राम तथा सन् १९४७ में उसका प्रतिफलन भी इसके ही व्यक्त रूप थे।

जिस समय राष्ट्रचेतना उद्बुद्ध होती है, राष्ट्रप्रेम स्पंदित होता है, गगनचुंबी पर्वत धूल में मिल जाते हैं। चारों ओर राष्ट्रोत्थान के हित जोश, उत्साह और उमंग का वातावरण अनुप्राणित हो उठता है। भारत इससे अपरिचित नहीं।

इसके ठीक विपरीत की बात लीजिए। जब राष्ट्रचेतना का अभाव होता है, तब व्यक्ति स्वार्थांध हो जाता है। वह देश के हित को अहित में परिणत कर देता है। राष्ट्र की हर वस्तु अपनी है—इसे वह व्यक्तिशः मान बैठता है, जबकि इसे समष्टि रूप से मानना चाहिए। हम आज स्वतंत्र हैं, हमें अपनी नई उपलब्धियों पर गर्व है। पर, आज भी ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं, जो विदेशी शासन का गुणगान करते थकते नहीं और राष्ट्रचेतना के अभाव में स्वतंत्रता का अनुचित आचरण करते हैं।

एक पार्टी विशेष के एक जिम्मेवार नेता ने, लगभग दस रोज के बाद इस बात को स्वीकार किया कि हाँ, चीन ने भारत पर आक्रमण किया है। हमारे यहाँ आज ऐसे लोग भी हैं, जो पानी बरसता है चीन में और छाता तानते हैं हिंदुस्तान में।

राष्ट्रोत्थान के मार्ग में यही भावना सर्वाधिक अवरोधक है, जो अनेक रूपों में, समय-समय पर व्यक्त होती रहती है। यह सत्य है कि भारतीय संविधान के अनुसार हमें अनेक बातों में पर्याप्त स्वतंत्रता मिली है, पर उसकी ग़लत व्याख्या करके हम

उस स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं। राष्ट्रीय संपत्ति के स्वेच्छया उपयोग की भावना अत्यंत संकीर्ण मनोवृत्ति है, राष्ट्रीय स्तर पर अराष्ट्रीयता है और मानवता की दृष्टि से अमानवता। और भी ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनके विषय में विवेक की अपेक्षा प्रायः भ्रम देखा जाता है। हम धर्म की, नीति की, शिक्षा की अनेक बातें करते हैं, पर उनके आचरण की ओर हमारी सम्यक् दृष्टि नहीं जाती। परिणामस्वरूप सिद्धांततः सुमार्गी होने पर भी हमें पग-पग पर अड़चनों का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय अहित देखना पड़ता है। संभवतः देश की इन्हीं स्थितियों को देखकर हमारे वर्त्तमान राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था—"उचित व्यवहार और अनुशासन का भाव किसी भी देश की जनता में होना उसकी प्रगति का परिचायक है।"

हमें सदा राष्ट्रोत्थान की दृष्टि से अपने हर अगले क़दम के बारे में सोचना चाहिए। व्यक्ति और समाज—दोनों के विकास की रेखाएँ अलग-अलग नहीं, एक हैं और अन्योन्याश्रित हैं। अपने स्वत्व को भुला कर सामाजिक स्वत्व में तल्लीन रहनेवाले व्यक्तियों का समाज में अभाव नहीं। पर, सामाजिक व्यक्ति के लिए इतना आवश्यक नहीं। वह दूसरों के हितों की टकराहट से बच कर, राष्ट्रोत्थान में सहायक होते हुए, अपने हितों की गाड़ी खींच ले जाए, इतना ही अलम् है, यही राष्ट्रचेतना है और यही सच्चा राष्ट्रोत्थान, यही है मातृभूमि की सच्ची जय !

संप्रति हमें अपने हर आचरण में राष्ट्रचेतना, सुविचार एवं

सदाचार का ध्यान रखना चाहिए। अपने हितों की अनुचित तुष्टि हमें आगे नहीं बढ़ा सकती; ज्योति के मार्ग पर नहीं ले जा सकती, वरन् पतन और अंधकार के गर्त्त में ढकेलेगी। अतः, केवल आज ही नहीं, वरन् सार्वकालिक रूप से राष्ट्रचेतना की महती आवश्यकता है। यदि आप मातृभूमि की जय चाहते हैं, तो राष्ट्रचेतना को ही निर्देशक-उत्स स्वीकार कीजिए।

● ● ●

२. नया सूरज बुला रहा

"संकल्प के बिना बल, बल के बिना संकल्प अधूरे हैं। उनके मिलने से सामर्थ्य की इकाई बनती है। बुद्धि अकेली शून्य है; पर सामर्थ्य की इकाई के साथ मिलकर उसे दसगुना कर देती है। यही क्रिया-सिद्धि का सूत्र है।"

—एक रोमन विचारक

पापी गोरा मृत्यु-शैय्या पर पड़ा था।
मृत्यु द्वार खटखटाने आई।
वह बोला—"मृत्यु, तू जा,
डाक्टर, तू आ।"
उधर नीग्रो मृत्यु-शैय्या पर पड़ा था।
मृत्यु द्वार खटखटाने आई।
वह बोला—"डाक्टर, तुम जाओ।
मृत्यु, मेरी प्रिय सखी !
तू आ देर न कर।"

एक भावुक नीग्रो कपास के बागीचे में काम करते-करते थक

गया था और एक टीले पर बैठकर अपने हृदय से निकले उपरोक्त गीत को गुनगुना रहा था।

घटना तब की है, जब नीग्रो जाति पूर्णतः दास थी। वस्तुतः इस गीत के अनुसार नीग्रो जाति का बच्चा-बच्चा गुलाम रहकर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करना अत्यधिक पसंद करता था। बात-बात पर विजेता जाति द्वारा उन पर कोड़े बर-साये जाते थे। साधारण-सी भूल पर उन्हें फाँसी का दंड दिया जाता था। उनके लिए कारागृह यातना की काल-कोठरी थी; किंतु जिसे फाँसी दे दी गई, वह मुक्त हो गया और क्राइस्ट के समान पूजनीय तथा श्रद्धा का पात्र बन गया—इन शब्दों में :—

"कोड़े मारते वे उसे पर्वत की चोटी पर ले गए;
किंतु उसने एक शब्द न कहा।
सिर झुका केवल दो आँसू बहा दिये।"

आज़ादी की प्यास बुझाने के लिए हमारे देश में भी अनेक लोगों ने प्राणोत्सर्ग किये; फाँसी का झटका लगने से पहले गाया—

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाजुए क़ातिल में है।।

आज़ादी की प्यास बुझाने के लिए फाँसियों की संख्या की लंबी कतार है हमारे पास। नीग्रो जाति ने भी आशा का नया सूरज देखा और तब उनके हृदय से निम्न पंक्तियाँ फूट पड़ीं :

"महान लिंकन ने
गुलाम को स्वतंत्र किया।

बंदूक और गोली की सहायता से।
और अब हमें
कोड़े नहीं खाने पड़ेंगे।
इस गुलामी से मुक्त होकर
हम जा रहे हैं;
स्वतंत्रता के सुनहरे द्वार की ओर।"

हमें भी आजादी मिली। आशा का नया सूरज हमें बुला रहा था। हमने नए सूरज को पा लिया। मगर पास पहुँचते ही नए सूरज ने पूछा, "क्या सचमुच आज़ादी को भोगना चाहते हो ?"

हम पसीने-पसीने थे, सूक्ष्म आत्मा अस्त-व्यस्त थी। हमने एक स्वर से कहा, "हाँ, हम आज़ादी को भोगेंगे।"

सूरज बोला, "भोग के लिए संयम चाहिए, निरंतर प्राप्ति के लिए इस अभीष्ट को सुरक्षा की गारंटी चाहिए।"

हम उत्साह में थे, उतावले थे, हमने छूटते ही कहा, "यह सब हम कर लेंगे। प्राण देकर हमने जिसे पाया है, उसकी सुरक्षा भी हो लेगी।"

नया सूरज बोला, "तुम अपनी शर्त पर कायम रहो, तुम्हारी आज़ादी सदा तुम्हारे साथ रहेगी।"

देश की संपूर्ण व्यवस्था का भार हमारे नेताओं के कंधों पर आ पड़ा। उन्होंने एकजुट होकर देश के विकास के लिए हमें संघर्ष करने को कहा। स्कूलों के शिक्षकों ने छात्रों से कहा—

'इस मिट्टी से तिलक करो, यह धरती है बलिदान की।'

हम नैतिक दृष्टि से आजाद हुए थे, आर्थिक दृष्टि से नहीं। हमारे देश को आर्थिक और औद्योगिक क्रांति की आवश्यकता थी। फलतः हम लौहदेवता की शरण में आए। हमारे मित्र देशों ने हमें डालरों, पौंडों, रूबलों और येंटों से सहायता की, हमें कल-कारखाने के सामान दिये, तकनीकी जानकार दिये।

हमने नए पावर-स्टेशनों की स्थापना की, नए कारखाने खोले। हर जगह लोग कल-कारखानों में नौकरियाँ पाने लगे।

मशीनें चलने लगीं!

मशीनों के पहिये नाचने लगे!!

पावर स्टेशनों में लगाये गए नए-नए जेनरेटर धड़धड़ाने लगे!!!

मगर हमने प्रगति का जो लक्ष्य विंदु बनाया था, वहाँ तक नहीं पहुँच सके! क्यों?

यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है, मुल्क के लिए एक अहम मसला है। इस क्यों का उत्तर देने के लिए आप शायद तैयार नहीं हैं। संभवतः आप भी उन लोगों में से एक हों, जिनकी असावधानी के कारण यह प्रश्न-चिन्ह खड़ा हुआ।

मुझे अनेक वर्षों तक एक बहुत विशाल कारखाने के एक जर्मन इंजीनियर को देखने और उसके बारे में जानने का मौका मिला था। उसकी मातहत कई भारतीय इंजीनियर काम करते थे। यह जर्मन इंजीनियर चीफ इंजीनियर था। उसका काम था, मशीन में किसी प्रकार की ऐसी दिक्कत होने पर जो फीटरों

और अन्य मिस्त्रियों की समझ में न आए, केवल बतला देना कि इस दिक्कत को कैसे दूर किया जा सकता है।

जी हाँ, वह जर्मन इंजीनियर चीफ इंजीनियर था !

वह चाहता, तो समय से पीछे कारखाने में जाता और छुट्टी के समय से पहले अपने बँगले पर लौट सकता था। उससे कैफियत पूछने वाला कोई अफसर न था। मगर, इन पंक्तियों के लेखक ने क्या देखा ?

इंजीनियर को लोग वहाँ मि० लेंज कहा करते थे।

रोज सबेरे साढ़े छह का भोंपा बजता और मि० लेंज ठीक उसी वक्त कारखाने में प्रवेश करता होता। पाँच बजे छुट्टी का भोंपा बजता और लोग देखते कि मि० लेंज साढ़े पाँच बजे कारखाने से बाहर निकले आ रहे हैं। तब उसकी पतलून और कमीज कालिख से सनी होती।

कर्मचारियों से मालूम हुआ, मि० लेंज अपने चेम्बर में बहुत कम बैठते हैं। कारखाने में बराबर घूमते रहते हैं। वे मिस्त्री को काम करने की आज्ञा नहीं देते, मिस्त्री स्वयं उनके साथ काम करने लग जाते हैं। मशीनों के पुरजे दुर्घटनाग्रस्त नहीं होते। मि० लेंज की सतर्कता लौहदेवता को सदा प्रसन्न रखती है। मगर, ऐसी आदत बाकी इंजीनियरों को नहीं है।

बात तो यहाँ मात्र एक ऐसे जर्मन इंजीनियर की हुई, जो भारत के एक विशाल कारखाने में चीफ इंजीनियर के पद पर रहा और आज तक है। मगर, मेरा खयाल है कि संकेत-रूप में

यहाँ हमें अपने 'क्यों ?' का उत्तर मिल गया।

हमारा देश औद्योगिक क्रांति की ओर अग्रसर हो रहा है। मगर, क्या इस औद्योगिक क्रांति को सफल बनाने का सारा भार मात्र जवाहरलाल नेहरू पर ही है ?

मैं तो कहूँगा—कदापि नहीं।

आप समय से काम करने के लिए कारखाने में नहीं पहुँचते, जवाहरलालजी आपको यहाँ अपने कर्त्तव्यों की याद दिलाने नहीं आयेंगे।

आप पंद्रह मिनट देर करके कारखाने पहुँचे। मान लीजिए, आप उस मशीन को चलाते हैं, जिससे बोरों में सिमेंट भरा जाता है। मशीनें तेज चलती हैं। आप पंद्रह मिनट तक नहीं आए, वह मशीन बंद रही। पंद्रह मिनट में वह मशीन सिमेंट की पाँच सौ बोरियाँ भर लेती है। जरा इस प्रकार आप राष्ट्रीय घाटे का अनुमान कीजिए। एक वैगन में पाँच सौ बोरियाँ जाती हैं। जहाँ सिमेंट भेजना है, वहाँ आठ वैगन सिमेंट की आवश्यकता है। आपकी असावधानी से वहाँ सात वैगन ही सिमेंट पहुँच सका। जब सात वैगन सिमेंट समाप्त हो गया, तब काम रुक गया। सैकड़ों कर्मचारी बैठ गए। मान लीजिए, एक वैगन और सिमेंट नहीं घटता, तो आठ रोज तक काम चलता रहता। इस प्रकार एक योजना को आपकी पंद्रह मिनट की देर ने आठ रोज पीछे खींच लिया। और, उस पर तुर्रा यह कि हम कहेंगे कि देश के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू कुछ कर ही नहीं रहे हैं।

हमारे मुल्क में डिक्टेटरशिप तो है नहीं। हमें अपने विचार व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार है। मगर देश को नुकसान वहाँ पहुँचता है, जहाँ हम अपने अधिकारों की ग़लत व्याख्या कर बैठते हैं। अगर हमलोग इस प्रकार की गलत व्याख्या से बाज आएँ, तो हमारा देश वस्तुतः लंबी छलांगें लगा सकता है। एक और उदाहरण लीजिए—

मान लीजिए कि आज रात कारखाने में आपकी ड्यूटी दो बजे रात से है। आप सोये रह जाते हैं। काम पर नहीं जाते। आपकी जगह पर जिस व्यक्ति की ड्यूटी दो बजे रात तक थी, उसकी तबीयत अच्छी नहीं। वह ओवरटाइम काम करने की स्थिति में नहीं है। वह चला आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आपकी ड्यूटी में, आपकी वह मशीन, जिसे आप चलाते हैं, वह दो बजे रात से लेकर दिन के दस बजे तक बंद रही और आठ घंटे में उस मशीन से जो उत्पादन हो सकता था, वह नहीं हो सका।

जरा आँखें खोलकर देखिए कि क्या इस प्रकार आपने देश की औद्योगिक क्रांति को धक्का नहीं पहुँचाया ?

असावधानी और नुकसान का एक और चित्र देखिए—

कारखाने में आपकी ड्यूटी दो बजे रात तक है। आप चार मशीनों को देख रहे हैं। आपने सोचा, मशीनें ठीक ही तो चल रही हैं। आप सो रहे। इधर एक मशीन से अस्वाभाविक आवाज़ निकलने लगी। मगर, आप तो सो रहे हैं। उस अस्वाभाविक

आवाज़ को सुनेंगे कैसे ? मान लीजिए, किसी चीज का एक छोटा-सा टुकड़ा मशीन के मुख्य पुरजे में फँस गया है। अस्वाभाविक आवाज़ पैदा कर मशीन ने अपनी दिक्कत की सूचना दी। पर, सूचना पानेवाला तो सो रहा है।

एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट...

और एक कर्णभेदी आवाज़ !

मशीन का वह पुरजा टूट गया, बिखर गया।

और जब तक नया पुरजा न लगे, तब तक वह मशीन बंद रहेगी।

अब आप ही सोचिए, कहाँ वह आजादी की प्यास, कहाँ औद्योगिक क्रांति को यह धक्का ! नए भारत का नया सूरज अस्तमान होगा या उदीयमान ?

श्रमिक-समाज में वर्गचेतना आ रही है और इस वर्गचेतना का स्वागत जवाहरलाल नेहरू भी करते हैं। आधुनिक काल का हर विचारक इस वर्गचेतना का स्वागत करता है। मगर, हमारी यह वर्गचेतना तब हमें धोखा देनेवाली साबित होती है, जब हम अपनी माँगें स्वीकार करवाने के लिए कल-कारखानों में हड़ताल का सहारा लेते हैं। इस प्रकार के संगठनों के नेता आपसे कहते हैं : हड़ताल के सिवा कोई और विकल्प नहीं, कोई और संबल नहीं !

कोई आवश्यक नहीं कि हड़ताल करने से हमारी माँगें पूरी ही हो जाएँ, मगर यह तो स्वाभाविक है कि हड़ताल करने से देश

की औद्योगिक क्रांति के पाँव थक जाते हैं, लड़खड़ा जाते हैं।

कहा जाता है कि तरबूजे को देखकर तरबूजा रंग बदलता है।

इस दिक्कत को स्पष्ट करने के लिए एक और उदाहरण पेश करता हूँ।

जनवरी महीने में चाय-बगान में लंबी हड़ताल होती है। यह हड़ताल एक माह तक रहती है। हड़ताल का परिणाम क्या हुआ, इसे छोड़ दीजिए। जनवरी में जितना काम नुकसान हुआ, वह मार्च में पूरा हुआ। अप्रैल में चाय के बड़े-बड़े बक्से निर्यात के लिए बंदरगाह तक पहुँचाये गए। यहाँ तरबूजे को देखकर तरबूजे ने रंग बदला। यहाँ के मजदूरों ने सुन रखा है कि अमुक चाय-बगान में हड़ताल हुई थी, अपनी माँगें पूरी कराने के लिए हमें भी हड़ताल करनी चाहिए। और, हड़ताल हो गई। चाय का निर्यात रुका, डेक के सारे मजदूर तो हड़ताल पर हैं, जहाज पर सामान कौन लादे? मान लें कि यह हड़ताल भी महीने भर चली। हमारा माल विदेश पहुँचने में निश्चित समय से दो माह बाद पहुँचा। हमें देश के अंदर फैली हुई औद्योगिक योजनाओं को पूर्ण करने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है। संभव है, हम मुद्रा के बदले मशीनें ही मँगवायें। और, इस प्रकार हड़ताल करने से हमारा अगला कदम दो-तीन माह के लिए रुक गया।

कहिए, हड़ताल की नीति ने उस वचन को कहाँ पूरा किया, जो हमने आजादी मिलते वक्त स्वतंत्रता के नए सूरज को दिया था?

जब हम विदेशों से लेंगे और उन्हें देंगे नहीं, तो हमारी

आजादी कहाँ सुरक्षित रह पाएगी, हम अपना कर्ज कहाँ से पाट पायेंगे !

इसलिए अपनी औद्योगिक क्रांति को सफल बनाने के लिए, देश को आर्थिक संकट से बचाने के लिए असावधानी, आवेश, आलस्य और हड़ताल की भावना को आज ही तिलांजलि दे दें।

अधिक विस्तार में नहीं जाकर आप जर्मनी को ही ले लीजिए।

जराजीर्ण पुरातन के नाश में ही नवनिर्माण के पोषक तत्त्व रहते हैं। अठारह वर्ष पूर्व के महायुद्ध ने जर्मनी की जराग्रस्त देह को खाक में मिला कर उसकी अमर आत्मा को नया चोला दिया। नए जर्मनी का यह चमत्कारी विकास देखकर सहज ही यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है :

क्या भारत को भी नवनिर्माण के लिए सभी अनावश्यक परंपराओं के क्रांतिजन्य विनाश की प्रतीक्षा करनी होगी ?

सन् १९६० ई० में जर्मनी के एक अखबार में एक कार्टून प्रकाशित हुआ। उसमें एक जर्मन बैंक का दृश्य है। बैंक वाले दरवाजा बंद किये हुए हैं; पर काँच फोड़कर बाहर वाले अपना धन अंदर बरसा रहे हैं। बैंक का खजांची नोटों से दबा त्राहि-त्राहि कर रहा है। बैंक के आँगन में नोट झाड़ू से बुहारे जा रहे हैं। जर्मनी की धन-संपन्नता का इससे अधिक सजीव चित्रण कुछ और नहीं हो सकता।

और फिर सन् १९३९ को स्मरण कीजिए।

गत महायुद्ध के केवल एक सप्ताह पूर्व, सन् ३९ में हमने

जर्मनी को रणोत्साह में व्यस्त देखा था। फिर महायुद्ध के प्रलयंकर विनाश के बाद सन् ५१ में अपने पाँवों पर खड़े होते हुए और फिर सन् ५६ में द्रुतगति से चलते हुए जर्मनी को देखा है।

पच्चीस-अट्ठाइस वर्ष किसी देश के जीवन में कोइ लंबी अवधि नहीं, पर उतनी अवधि में ही युद्धपूर्व की अपरिमित रणसज्जा, युद्धकाल की मरण-मारण और विनाश सत्यानाश-लीला और अब महोत्तरकाल के नवनिर्माण एवं विकास को देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता। हमें सोचना है कि आखिर यह सब क्या है, कैसे है ?

वस्तुतः विकास को यह पराकाष्ठा हमलोगों के लिए बहुत ही अचरज की चीज है कि हमारा देश अभी विकास की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ पाया है; बल्कि कटु सत्य यह है कि आज हम हाथ पसारे घूम रहे हैं कि हमारी मदद करो, हमें डालर दो, हमें पौंड दो, जर्मन मार्क दो। और, यह जर्मन राष्ट्र है, जो एलान कर रहा है :

"मेहरबानी करके हमारे देश में लाया हुआ अपना धन वापस ले जाओ।

ऐसा करोगे, तो, तुम्हें हम सौ पीछे एक बोनस देंगे।"

आप जानना चाहेंगे, इसका कारण क्या है ?

इसका कारण है, औद्योगिक क्रांति के प्रति जर्मनों की ईमानदारी, दायित्त्व की भावना, देश में आर्थिक समृद्धि लाने की सच्ची निष्ठा।

और एक जर्मनी ही क्यों, स्विटज़रलैंड तथा इंगलैंड में कुछ अंशों में स्थिति इसी से मिलती-जुलती है। कहा जाता है कि वहाँ इन दिनों बाहर का धन और सोना सिमट-सिमट कर आ रहा है। ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए कि वे लोग आयात से अधिक निर्यात कर रहे हैं। निर्यात इसलिए कर रहे हैं कि उनकी औद्योगिक क्रांति की नींव मजबूत है। आयात से निर्यात की अधिकता और अन्य देशों के मुकाबले अधिक व्याज मिलना—ये ही दो मुख्य कारण हैं, जो विदेशी धन को जर्मनी में एकत्र कर रहे हैं।

अगर हमारी सारी औद्योगिक योजनाएँ ठप पड़ जाएँ, हम आलस्य और व्यक्तिगत स्वार्थ की आराधना में लग जाएँ, तो हमारे यहाँ ऐसी स्थिति कब आएगी, न तो जवाहरलाल नेहरू बतला सकते हैं और न संसार का बड़े-से-बड़ा कोई ज्योतिषि।

और, ठीक इसके विपरीत जर्मनी की आर्थिक समृद्धि के बारे में जान लीजिए। आज जर्मनी की तिजोरी पैंतीस अरब रुपए की विदेशी मुद्रा और सोने से फटने को हो रही है।

आज से सिर्फ अठारह वर्ष पहले जिस देश की गली-गली में मकानों के खंडहर थे, जिसके कारखानों के कंकाल भी शेष नहीं थे, जिसके अधिकांश वयस्क नागरिक जंगबाज हवाई जहाजों के शिकार बन चुके थे, उसी देश का आज यह विकास कि देखकर दाँतो-तले उँगली दबानी पड़ती है। इस संबंध में स्वयं जर्मन कहते हैं—"हमारी इस उन्नति का मुख्य श्रेय युद्ध में

हुई तबाही को है। बने-बसे शहर और पुराने मकान शत्रु के बमों ने साफ कर दिये; उनकी जगह हमने नए शहर बसा लिये। सौ-पचास वर्ष पुराने कारखाने प्रायः नष्ट हो गए और जो बचे, उन्हें विजेता उठा ले गए, हमने नई-नई मशीनों वाले नए कारखाने स्थापित कर लिये।"

सोचिए, उनके इस गर्व के पीछे कौन-सा कारण निहित है ?

उनके इस गर्व के पीछे जर्मनों की कर्मण्यता ही निहित है और कुछ नहीं। कर्मण्यता मानों इस देश का पर्यायवाची है। नवनिर्माण के लिए कितना अदम्य उत्साह और कितनी सामर्थ्य है इस देश में ! आप किसी भी दिशा में पाँच-दस मील निकल जाइए, आप देखेंगे कि कोई सड़क चौड़ी की जा रही है, कोई पुल बनाया जा रहा है, कोई नया कारखाना लग रहा है। लड़ाई के जख़्मों के निशान अब भी कहीं-कहीं दीख जाते हैं; पर बहुत कम। अब तो नए-नए रास्ते, नए-नए मकान और उन मकानों में नई-नई वस्तुओं से भरी दूकानें सर्वत्र दिखाई देती हैं। नल के पानी के बहाव, आलू छीलनेवाले घरेलू उपकरण से लेकर फौलाद बनाने की मशीनें तक खरीदने के लिए आतुर ग्राहक जर्मनी आते हैं और अपने पैसे यहाँ की तिजोरियों को समर्पित कर जाते हैं। केवल सामान खरीदने के काम में ही नहीं, बल्कि अपने धन में वृद्धि लाने की दृष्टि से भी लोग यहाँ अपनी पूँजी लगाते हैं। इसका मुख्य कारण है—जर्मनी के कल-कारखानों की अपार उत्पादन क्षमता। और, इस अपार उत्पादन-क्षमता के

पीछे है—वहाँ के कारखाना-कर्मचारियों का नैतिक सहयोग।

वे समय से काम पर जाकर देश की जय बोलते हैं!

वे कम-से-कम गैरहाजिर होकर देश की जय बोलते हैं!!

वे अपने कल-कारखानों को धड़धड़ा कर देश की जय बोलते हैं!!!

वे किसी की जिज्ञासा शांत करने के लिए यह नहीं कहते कि मैं जिस कारखाने में काम करता हूँ, उसमें मशीनों के पुरजे बनते हैं और विदेशों को भेजे जाते हैं।

वे कहते हैं— हम यहाँ मशीनों के नए-नए पुरजे तैयार कर रहे हैं और विदेशों को निर्यात कर रहे हैं।

इसी प्रकार हमें भी यह सोचना होगा कि भारत में जितने कल-कारखाने खुले हैं या खुल रहे हैं, वे सब चौवालिस करोड़ भारतीयों की ज्वाएंट स्टॉक कंपनी हैं। इनमें चौवालिस करोड़ लोगों का शेयर है!

हम इसी भावना को साकार रूप देकर भारत की जय बोल सकते हैं।

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तक़दीर से पहले,
खुदा बंदे आ खुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है?

● ● ●

3. अहिंसा और तलवार

"यदि कोई दुर्बल मनुष्य तुम्हारा अपमान करे, तो उस पर क्रोध मत करो, बल्कि उसे क्षमा कर दो; क्योंकि क्षमा करना ही वीरों का धर्म है। लेकिन, अपमान करने वाला यदि बलवान हो, तो उसे अवश्य दंड दो।"

—गुरुगोविंद सिंह

उस रोज भारत पर चीनी आक्रमण के शीघ्र बाद गाँधी-दर्शन के एक मात्र सच्चे प्रतिनिधि गणतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने गाँधी मैदान में, लाखों लोगों के बीच जो कुछ कहा, उसका अर्थ था—अहिंसा के हाथ में तलवार दो।

और, मुझे थोड़ा विस्मय हुआ !

विस्मय हुआ, आखिर क्यों विस्मय हुआ ? कारण, प्रसिद्ध बर्मी कवि ऊ-बा-पे को कविता का भाव याद आ गया। भाव इस प्रकार है :—

"वे दो शांति-कपोत थे, जो विरोधी दिशाओं से सात समंदर

पार कर उस वृक्ष पर आ बैठे थे। दोनों ने परस्पर परिचय पूछा। दोनों ही एक धर्म में लीन। बड़े प्रसन्न हुए। साथ ही खाया, साथ ही पिया। विश्राम के समय, बातों-ही-बातों में एक ने कहा—"सुनो, मेरे मालिक के पास तुम्हारे मालिक की अपेक्षा सैन्य-बल बहुत ज्यादा है।" दूसरा कपोत बोला—"झूठ, सरासर झूठ!" और, क्षण मात्र में ही दोनों शांति-कपोत एक दूसरे पर झपट पड़े और जब तक निर्जीव नहीं हो गए; अपनी सचाई की रक्षा के लिए लड़ते रहे।"

मैदान से लौट कर आया, तो एक पत्रिका पढ़ने का मौका मिला। उसमें प्रसिद्ध विचारक जेराल्ड हर्ड की एक बोधकथा प्रकाशित थी। वह लगभग इस प्रकार थी—

"कुछ रोज पहले की बात है। एक बियावान जंगल में एक बाघ अपने परिवार सहित रहता था। एक रोज वह बड़े सबेरे उठा। देखा, बाघिन सोयी हुई है। उसने उसे जगाया। बाघ का चेहरा गंभीर था। मगर, उसकी गंभीरता में हर्ष के भाव थे। आँखें मलते हुए बाघिन ने पूछा, "क्यों, क्या बात है?"

बाघ बोला, "आज से इस जंगल का राजा मैं हूँ।"

बाघिन ने साश्चर्य बाघ को देखते हुए कहा, "क्या कहते हो! जंगल का राजा तो सिंह है!"

"हाँ, कल तक था, पर अब परिवर्त्तन आवश्यक हो गया है। अजब हो तुम। देखती नहीं, संपूर्ण सृष्टि में क्रांति के लिए शोर मच रहा है। फिर हम ही पीछे क्यों रहें भला!"

सुनकर बाघिन ने अपने कान सीधे किये; पर उसे किसी तरह का शोर सुनायी नहीं पड़ा। हाँ, उसके बच्चे भूख के कारण अवश्य गुर्रा रहे थे। इधर महत्त्वाकांक्षी बाघ बोलता ही जा रहा था। उसने आगे कहा, "आज रात जब चंद्रमा आकाश में आएगा, तब मुझे इस जंगल का राजा पाएगा। रानी, तुम देख लेना, मेरे सम्मान में आज चंद्रमा का भी रंग पीला होगा और उसमें काले रंग की पट्टिया होंगी। मेरा रंग ग्रहण करके वह भी मेरी प्रभुता स्वीकार करेगा।"

बेचारी बाघिन तर्क में पड़ना नहीं चाहती थी। अतः, उसने सिर्फ इतना ही कहा, "हो सकता है।" और, अपने बच्चों की ओर मुखातिब हो गई।

मगर, बाघ की स्थिति कुछ और थी। थोड़ी ही देर बाद वह अपनी माँद से निकला और सिंह के दरवाजे पर जाकर आवाज़ दी—"बाहर निकलकर जंगल के राजा को सलाम करो। जंगल का राजा मैं हूँ। यहाँ मेरी प्रभुता चलेगी।"

सिंह घोर निद्रा का आनंद ले रहा था। सिंहनी ने यह आवाज़ सुनी और उसने सिंह को जगाया। बोली, "उठो, कोई राजा तुम्हें बाहर बुला रहा है। कहता है, जंगल का राजा वही है।"

सुनकर सिंह के क्रोध का ठिकाना न रहा। वह क्रोधावेश में बाहर निकला और देखते-ही-देखते दोनों में द्वन्द्व-युद्ध आरंभ हो गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों युद्ध का रूप भी बदलता गया और अंततः जंगल के सभी जानवर इसमें शामिल

हो गए। उनमें से किसी ने सिंह का पक्ष लिया, तो किसी ने बाघ का। लेकिन, लड़ाई हो क्यों रही है, इसका ज्ञान कुछ ही जानवरों को था—बाकी सिर्फ लड़ने के लिए लड़ रहे थे।

लड़ते-लड़ते एक कुत्ते ने सियार से पूछा, "लेकिन भाई, तुम मुझसे लड़ किसलिए रहे हो?"

सियार ने गर्दन ऊँची करके कहा, "अन्याय के प्रतिकार के लिए।"

तभी एक घायल घोड़े ने भी अपने से लड़ रहे एक रीछ से यही प्रश्न किया और रीछ ने उत्तर दिया, "व्यवस्था कायम रखने के लिए। अराजकता की स्थिति पैदा होने देकर मत्स्यन्याय को छूट हम कभी नहीं बर्दाश्त कर सकते।"

इस प्रकार भीषण मार-काट में दिन समाप्त हो गया और संध्या होने पर चंद्रमा आकाश में आया। आज वह वास्तव में पीला था और उस पर काली पट्टियाँ पड़ी थीं। पर, साथ ही वह एकदम निस्तेज-सा भी लग रहा था। फिर भी नित्य की तरह आज भी उसने जंगल की सजीवता के दर्शन के लिए दृष्टि नीचे झुकायी और जंगल में चाँदनी फैल गई। पर, अभी उसे एक उल्लू और एक चमगादड़ के सिवा, जो वहाँ के भयानक दृश्य को देखकर चीख रहे थे, कोई जीवित प्राणी न दिखा। सभी प्राणियों का नाश हो चुका था और रक्तरंजित बाघ भी मृतप्राय भूमि पर पड़ा था। अंततः वह जंगल का राजा बन गया था; लेकिन निर्जन जंगल में वह भला राज किस पर करता!

अचानक अपनी विजय के प्रतीक चंद्रमा पर उसकी दृष्टि पड़ी, तो अपनी पूरी शक्ति लगा कर वह उठा; पर तुरत ही चक्कर खाकर गिर पड़ा और उसकी आँखें पथरा गईं।

विस्मय हुआ और इन भावों के कारण विस्मय हुआ !

फिर बहुत देर तक तटस्थ भाव से सोचता रहा, तो दिल ने कहा—हाँ, यह वक्त आ गया है कि हम शांति के हाथ में तलवार दें, अहिंसा के हाथ में तलवार दें। जब हमारी स्वतन्त्रता पर खतरा हो, तब युद्ध हमारे लिए धर्मयज्ञ हो जाता है।

हम हिंसावादी तो वहाँ होते हैं, जहाँ दूसरे की वस्तु या दूसरे का उचित अधिकार छीनने के लिए हथियार उठाते हैं। हम हिंसावादी वहाँ होते हैं, जहाँ विश्वविजेता बनने के लिए हम हथियार उठाते हैं। मगर, जहाँ हम आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाते हैं, वहाँ हम हिंसावादी कभी नहीं होते। यदि आत्मरक्षा के लिए हम अपनी शक्ति बढ़ाते हैं, तो उसे हिंसा-भावना नहीं कहा जा सकता, उसे आत्मरक्षा का अनुष्ठान कहा जाना चाहिए।

शांति-कपोत वाला भाव ले लीजिए। वे दोनों सैन्य-शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता के भाव से हताहत हुए, आत्मरक्षा के लिए नहीं। बाव मर्यादा के उन्माद में सिंह से उलझ पड़ा। भारत ने कभी ऐसा नहीं किया। भारत ने तभी तलवार उठायी, जब उसे छला गया। जब हमारी प्रादेशिक भूमि की अखंडता पर आँच आई, तब भारतीय सैनिकों ने जवाबी हमला किये। इसे आप क्या कहेंगे ? यह कार्य हिंसा का कार्य था ? कदापि नहीं।

एक बार तिलक महाराज ने घोषणा की थी—"स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" उसी प्रकार आज के युग में जब भारत पर शांति विरोधी और विस्तारवादी राष्ट्रों की नज़र लगी हुई है, हमें सोचना चाहिए—"आत्मरक्षा हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।"

और, इस आत्मरक्षा के लिए हमें उन सभी साधनों का उपयोग करना चाहिए, जो हमें प्राप्त हैं या हो सकते हैं।

पटना के गाँधी मैदान में इसी भावना को अभिव्यक्ति देते हुए स्वर्गीय राजेंद्रबाबू ने कहा था—"हमें हिंसा से, अहिंसा से, जहाँ जो साधन उपलब्ध हो, आक्रमणकारी चीनियों को खदेड़ना चाहिए।"

राजेंद्र बाबू ने आगे कहा था—"अगर चीनी सैनिक हमारे यहाँ आ जाएँ, तो हमें उनका ऐसा विरोध करना चाहिए कि उन्हें खाने को अन्न न मिले, पीने को पानी न मिले, यहाँ तक कि अपने साथियों की लाश दफ़न करने को उन्हें पाँच फुट भूमि न मिले।"

उपरोक्त भावना हिंसा अथवा असहयोग की भावना नहीं, आत्मरक्षा की भावना थी। और, अगर हममें आत्मरक्षा की भावना न होती, तो चीनी सैनिक जिस गति से आगे बढ़ रहे थे, हम उन्हें पीछे नहीं खदेड़ सकते थे। उनके सैनिक अधिकारियों ने अपने सैनिकों से कहा था—"चलो, चार नवम्बर को हम चुशूल में चाय पीयेंगे।"

पर, ऐसा नहीं हो सका, उनका यह सपना पूरा न हो सका मगर, उनका यह सपना क्यों पूरा नहीं हुआ ? चुशूल की धरती से उनके पाँव सदा उखड़ते ही क्यों गए ? तब हमारे सिपाहियों ने स्थिति को समझा, आत्मरक्षा की भावना को चरितार्थ किया, अहिंसा के हाथों में संगीन पकड़ायी, 'युद्ध में बेरहमी पहली शर्त है' इस सूत्र को अपनाया। जानें गँवायीं, जमीन नहीं गँवायी।

ऐसी स्थिति जब भी आएगी, हम अहिंसा के हाथों में तलवार पकड़ायेंगे, फिर भी दावे के साथ कहेंगे कि हम अहिंसावादी हैं। हम शांतिकामी हैं; क्योंकि अहिंसाकामी होने का अर्थ यह नहीं होता कि हम कायर बन जाएँ।

हम दूसरे का हक स्वयं नहीं ले सकते और न आत्मरक्षा का अधिकार दूसरे को सौंप सकते हैं। हम युद्ध का शतरंज कभी नहीं खेलेंगे, मगर यदि हम पर युद्ध लादा जाएगा, तो आत्मरक्षा के लिए अहिंसा के हाथों में तलवार सौंप देंगे। भारत दानवीय योजनाओं के आगे कभी झुकनेवाला नहीं है। हमें यह मानने से साफ इन्कार कर देना चाहिए कि भारत इतना गिर गया है कि उसके देश का एक भी बच्चा भारत के अस्तित्व की रक्षा के लिए विघ्नों के साथ नहीं जूझेगा। साथ ही, जहाँ मानवीय अधिकारों और मानवता की रक्षा का प्रश्न है, भारत की आत्मा प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक बर्ट्रेंड रसेल के इन विचारों के साथ है :

"कभी अपने-आपसे यह न कहिए कि सोवियत संघ या

संयुक्त राज्य अमरीका, अथवा नाटो राष्ट्र या वारसा-संधि राष्ट्रों की नीति को प्रभावित करने में आप असमर्थ हैं।" हम भारत-वासी सच्चे हृदय से युद्ध लोलुप देशों से बर्ट्रेंड रसेल के शब्दों में अपील करते हैं :

"हमें आशा और विश्वास है कि जिनकी भावनाएँ हमसे मिलती हैं और जो हमारी आस्था में हिस्सा बटाने को तैयार हैं, वे सब मिलकर एक ऐसे दुर्निवार और विश्वासोत्पादक शक्ति खड़ी कर सकते हैं, जिससे 'मानव-परिवार का भाग्य साझा है' यह बोध जागे और शस्त्रों के धनी, हिंसा-भावना के धनी, देशों के जोश के कारण जो सारे विश्व में जो एक आतंककारी वायु बह रही है, दूर हो जाए।"

भारत ऐसे संकल्प को जन्म देने में सदा हाथ बटाने को तैयार है, जिससे मनुष्य फिर कभी एक दूसरे को हानि पहुँचाने के विशाल दानवी उपाय नहीं सोचेंगे, बल्कि मिल-जुलकर सुख एवं सहयोग को पनपने देंगे। जब तक हममें प्राण है, हम विश्व-शांति और विश्वबंधुत्व के लिए संघर्ष जारी रखेंगे। मगर, ठीक इसके विपरीत यदि हमें छला गया, हमारी मर्यादा पर उंगली उठायी गई, तो हम एक बार क्या, बार-बार, हजार बार, लाख बार अहिंसा के हाथों में तलवार पकड़ायेंगे; क्योंकि हमने विरासत में यह अनुभव पाया है !

जिंदगी से ज्यादा हसीन आजादी है !

● ● ●

४. ऐसे स्वार्थ जगने दो

"आपने स्वार्थ का रहस्य जब जान लिया, तो फिर जानने को और
बाकी ही क्या रहा ?"

—थोरो

यह सच है !

और, बिलकुल सच है !!

कि देशहित के लिए, समाजहित के लिए, समग्र मानव-समाज के लिए त्याग भी एक स्वार्थ ही है। जहाँ हम ऐसे त्याग को स्वार्थ नहीं मानते, समझिए हम वहाँ विभ्रम में हैं।

स्वीटजर की निम्न पंक्तियाँ अपने आप में ऐसे स्वार्थपूर्ण त्याग की व्याख्या हैं। वह कहता है—

"स्वयं जीवन की दो एक ऐसी शर्त्त रहती है कि आत्मत्याग के कई अवसर इंसान की जिंदगी में आएँ। बिना ढूँढे ऐसे अवसर हमारे सामने आकर कितनी बार हमसे जवाब तलब करने लगते हैं और कितनी बार हम उनसे बचकर निकल भागते हैं। यह कतरा कर निकल भागना यों हमें बड़ा सुखद और सुरक्षाप्रद मालूम होता है; मगर यह कायरता ही नहीं, लांछनीय

मौत है। जिंदगी के आमंत्रण को ठुकरा कर, हम वास्तव में, अपनी ही खेती को सीमित करते हैं। जीवन की अनिश्चित अवधि एक लंबे एवं उर्वर खेत के सिवा और क्या है ? संयोग से मिली जीवन की जितनी चुनौतियों से हम मुकर जाते हैं, उतनी ही क्षति हम अपने पल्ले बाँध लेते हैं। इन चुनौतियों में कुछ तो महान प्रतीत होती हैं और कुछ बड़ी तुच्छ; किंतु आत्मानंद का सौरभ दोनों में एक ही होता है—कुम्हलाये गुलाब में और ताजे खिले गुलाब में इत्र एक ही होता है। जो फ़र्क नज़र आता है, वह मात्र विभ्रम है।"

इस व्याख्या को हृदयंगम करते हुए सोचना पड़ता है कि महात्मा गाँधी बड़े स्वार्थी थे, सुभाषचंद्र बोस बड़े स्वार्थी थे, सरदार भगतसिंह, चंद्रशेखर आज़ाद, राजगुरु, सुखदेव—ये सब बड़े स्वार्थी थे। संपादकप्रवर स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी बड़े स्वार्थी थे।

अपने देश के हित के लिए, अपने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए और देश में सांप्रदायिक एकता कायम करने के लिए इन लोगों ने अपना नंबर पहले लगाया। इन कार्यों के लिए इन लोगों ने ऐसा नहीं सोचा—पहले आप तब मैं।

मैं कहना चाहता हूँ—अगर आप स्वार्थी होना चाहते हैं, तो अपने में ऐसे स्वार्थ जगने दें।

स्वातंत्र्य-युद्ध के लिए गाँधी ने यह नहीं सोचा कि पहले राजेन्द्रप्रसाद जेल जाएँ, तब मैं जेल जाऊँ। अंग्रेजों की दमन

नीति से पहले भारत की आम जनता अपमानित हो ले, तब मैं अपमानित होऊँ।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी और उपन्यासकार यशपाल ने एक जगह लिखा है—

शाम का वक्त था। हम तीन-चार नवयुवक क्रांतिकारी शाम के धुँधले में, एक नाव पर रावी नदी में घूम रहे थे। हमारे साथ भगतसिंह भी था। बातचीत चल रही थी कि देश के नौजवानों के दिल में आजादी की प्यास कैसी जगायी जाए। हममें से एक ने कहा कि जब तक हममें से कोई एक फाँसी नहीं पड़ेगा, तब तक देश के जवानों में देश के लिए बलिदान होने की जागृति नहीं आएगी। और, तब छूटते ही भगतसिंह बोला—ओह, तुम यह बात आज सोच रहे हो? मैं तो इस बात को बहुत पहले से सोच कर बैठा हूँ और मौके की ताक में हूँ।"

और, भगतसिंह ने बम फेंका, फाँसी की सजा पायी और तब उनके इस महान स्वार्थ को लोक कंठों में इस प्रकार अभिव्यक्ति मिली—

आजादी का दीवाना था मस्ताना भगतसिंह,
बम केस में पकड़ा गया, मस्ताना भगतसिंह।

मेरे मित्रों! अगर स्वार्थी होना चाहते हो, तो ऐसे स्वार्थी बनो!

जब हम बीमार पड़ते हैं यानी जब हम पर रोग हावी हो जाता है, तब हम डाक्टर के पास जाते हैं। और यह भी सही

है कि जब रोगों से लड़ने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है, तभी हम बीमार भी पड़ते हैं। स्मरण कीजिए, अपनी एकता और राष्ट्रीय जागरुकता में कमी आने के कारण ही हम गुलाम हो गए थे। हमारे बुजुर्ग नेता हमारे डाक्टर बने। हमारे साथ गुलामी से जूझे, उसे हमसे अलग किया। हमने आजादी पायी और हमारे महान नेताओं ने हमें बतलाया कि हम अब इस आजादी की सुरक्षा किस प्रकार कर सकते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे हमारे नीरोग हो जाने के बाद चिकित्सक हमें संयम-विधि बतलाते हैं। अगर हमने उनके द्वारा बतलायी गई संयम-विधि से काम नहीं लिया, तो हम निश्चित ही फिर बीमार पड़ेंगे। यहाँ यह स्पष्ट है कि अगर हमने उस नुस्खे का पालन नहीं किया, जिसके अनुसार देश की आजादी कायम रखी जा सकती है, जिसके अनुसार देश में आर्थिक और औद्योगिक समृद्धि लायी जा सकती है, तो हम पुनः आज के सौ साल पीछे चले जाएँगे। हम उपनिवेशवादी गुलाम न होकर भिखारी अवश्य हो जाएँगे।

देश में हमारा भी हिस्सा है, हम देश के भागीदारों में से एक हैं। मगर, जब भी हम इसे अनुचित ढंग से ढूँढ़ने का प्रयास करेंगे, यह लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा, इसके शरीर से रक्त बह निकलेगा। देश को ऊँचा उठाने के लिए हमें वैयक्तिक स्वार्थों से ऊँचा उठना पड़ेगा और महाशयता के विंदु तक पहुँचना होगा।

सुख सुविधा और मानवीय संवेदना को केवल अपने स्वार्थ तक केंद्रित न कर उसे फैलने दीजिए; दिशा-दिशा में विकीर्ण

होने दीजिए। इसी विचार-वृत्त को प्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेंड रसेल ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

"वस्तुतः हमारा जीवन स्वयं अपने लिए न होकर दूसरों के लिए है। पहले तो उनके लिए, जिनकी हँसी-खुशी पर हमारे जीवन की गाड़ी आगे बढ़ती है और फिर उनके लिए, जिनसे व्यक्तिगत तौर पर तो हम अपरिचित हैं, पर एक ही जाति का होने के कारण जिनके साथ हम अदृश्य भाग की डोर से बँधे हैं—अर्थात् मानव-मात्र। मैं इस तथ्य को एक क्षण भी नहीं भुलाता और न भुलाना चाहता हूँ कि आज मेरा जो भी रूप है वह कुछ जीवित और मृत मानवों के परिश्रम और सहयोग का परिणाम-मात्र है। इसी कारण प्रायः मुझे इस बात का दुःख भी होता है कि मैं अपने औसत भाई-बहनों की तुलना में अधिक सुख-सुविधाओं का लाभ उठा रहा हूँ।

साधारणतः लोग वस्तुनिष्ठ ढंग से जीवन का अर्थ ढूँढने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के संबंध में कुछ आदर्श बना लेता है और उसी को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होता है। दुर्भाग्यवश, अधिकांश लोग अधिकाधिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि को ही अपना जीवन-लक्ष्य बनाये हुए हैं। मैंने सुख-सुविधाओं को कभी भी जीवन का अंतिम उद्देश्य नहीं माना और न चाहता हूँ कि कोई माने। मेरे विचार में जीवन को आनंदपूर्वक बिताने के लिए सर्वोत्तम आदर्श हैं—सत्य, साधुता और सौंदर्य!..."

अभी हाल में आपने यह समाचार ज्ञात किया होगा कि भारत-चीन युद्ध में हमारे अनेक सैनिक सीमा-रक्षा के प्रयत्नों में मारे गए। सरिता देवी नामक एक भारतीय नारी को भी तार मिला कि उसके पतिदेव युद्ध में शहीद हो गए। जैसा सांसारिक नियम चला आ रहा है, सरिता देवी रोती-कलपती और पुरस्कार स्वरूप सरकार से जो रकम मिलती, उससे अपने भरण-पोषण का प्रबंध करती। मगर महान नारी सरिता ने ऐसा कहाँ किया ? वह तो अपने पति के शहीद हो जाने का तार पाते ही अपने एकमात्र बेटे को लेकर फौजी बहाली के दफ्तर के दरवाजे पर चली आई और रिक्रूटिंग अफसर से बोली, "मेरे बेटे को भी भरती कर लो। यह भी चीनियों के दाँत खट्टे करेगा।"

आप भी ऐसा स्वार्थी क्यों नहीं बनते ? देशहित के लिए सबको पीछे छोड़ने की शक्ति अपने में पैदा कीजिए।

इसी प्रकार एक नवयुवक कैप्टेन मारा गया। उसकी बीस-इक्कीस साल की नौजवान पत्नी को सहायता के रूप में एक सिलाई की मशीन और पाँच सौ रुपए नक़द मिले। उसने रुपए और मशीन—दोनों चीजें राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दे दीं। सोचता हूँ, भारत का मान ऐसे ही लोगों के कारण टिका हुआ है।

मगर, भारत की इतनी बड़ी आबादी में ऐसे लोग उँगलियों पर गिने जाने लायक हैं। उस रोज एक नवयुवक से परिचय हुआ। वह एक सरकारी कार्यालय में किरानी है। थर्ड डिवीजन से मैट्रिक पास और वेतन पाता है एक सौ तीन रुपए। कह रहा

था—'सरकार हमलोगों के साथ अन्याय कर रही है। हमारा वेतन नहीं बढ़ रहा है। हमारी यूनियन हड़ताल करा देगी।"

यह बात तो वह बड़ी आसानी से कह गया। मगर; उसने यह नहीं सोचा कि अपनी शैक्षणिक योग्यता को देखते हुए वह बहुत पा रहा है। ठीक इसके विपरीत मैंने कई छात्रों को देखा है, जो अखबार बेचकर अपनी पढ़ाई का खर्च निकालते हैं, रात में रिक्शा भी खींचते हैं, मगर सरकार के प्रति उनकी कोई शिकायत नहीं है। विचारों की स्वतंत्रता तो उन्हें भी मिली है, वे भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, मगर एक ऐसे ही छात्र ने मुझसे कहा—"सरकार की आलोचना करने से बेहतर है कि मैं संघर्ष करके अपने को शिक्षित बना लूँ—आगे देखा जाएगा।"

समाज में हूँ इसलिए समाज से अलग नहीं रह सकता। देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा किये जाने के बाद भी अनेकों बार सरकारी कार्यालयों में जाने का अवसर मिला। काम की वैसी ही ढिलाई देखी, चाय पीकर और कैंटीनों में बैठ कर सरकारी कर्मचारियों को समय गुजारते देखा; पेंडिंग फाइलों को पेंडिंग रखते देखा, अफसर और किरानियों को ऊपरी आमदनी के लिए मानसिक तनाव में डूबते देखा। अफसर कंफीडेंसल खराब करने को कहता है—किरानी एकगुट होकर काम में अड़ंगा लगाने को कहते हैं।

उस रोज सुना, एक लोक-निर्माण विभाग के बड़े बाबू, ठेकेदार जेल गए। पता लगा, बात एक पुल बनने की थी। पुल बना

नहीं था। मगर पुल बन जाने के बिल पर ठेकेदार को टेण्डर के मुताबिक भुगतान हो चुका था। अब फिर पुल को मरम्मत कराने के लिए अर्थ-विभाग से रुपए माँगे जा रहे थे। किसी वरिष्ठ अफसर को संदेह हुआ, उसने घटनास्थल पर जाकर जाँच की। पुल बना ही नहीं था, मरम्मत के लिए रुपए कैसे ?

अब आप ही बोलिए यहाँ जवाहरलाल नेहरू का क्या अपराध है ? वेतन बढ़ाने के नाम पर, सुख-सुविधा पाने के नाम पर हड़ताल करने को तो लाखों लोग तैयार हैं और जहाँ देश के विकास की बात है, वहाँ केवल एक जवाहरलाल नेहरू जिम्मेवार हैं।

आप सिद्धान्ततः जवाहरलाल नेहरू को पसंद नहीं करते ? अच्छी बातें अच्छे ढंग से सोचने की होती हैं। ठीक है साहब, आप नेहरू सरकार से सख्त नाराज हैं। कोई बात नहीं। आप जनता हैं, किसी और व्यक्ति को प्रधान मंत्री बना लीजिएगा। मगर जरा ठंढे दिल से सोचिए कि ऐसा कौन प्रधान मंत्री आएगा, जो आपसे कहेगा—आप अपने दफ्तर का वक्त चाय पीने, दोस्तों से गप्पें लड़ाने और सरकार की आलोचना करने में गुजार दीजिए ? वह कौन-सा प्रधान मंत्री होगा, जो आपसे कहेगा —देर से कार्यालय पहुँचो और सबेरे घर लौट जाओ।

हाँ, अगर आप अपनी ही पसंद के प्रधानमंत्री के मंत्रित्व काल में ऐसा करेंगे, तो देश की स्थिति बिगड़ती ही जाएगी, देश

भिखारी का भिखारी ही रहेगा फिर आप किस मुँह से कहेंगे—भारतरूपी ज्वायंट स्टोक कंपनी का एक भागीदार मैं भी हूँ ?

आज देश का सच्चा भागीदार कौन है ?

जो देश हित के लिए आलस्य, असावधानी, स्वार्थ को त्यागता और महाशयता की हवा में साँस लेता है।

● ● ●

६. यंत्र-बल और श्रम-बल

"जड़ ही तो मुख्य है। जब तक तुम्हारी जड़ मजबूत होगी, निश्चय मानो, बड़े-से-बड़ा तूफान भी तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँचा पाएगा।"

—बोरिस पास्तरनाक

'आप हैं श्री मिखाइल : काम से जी चुराते हैं।'

मास्को के एक विशाल कारखाने के मुख्य द्वार पर एक मजदूर का बड़ा-सा कार्टून टँगा था, जिसके नीचे उपरोक्त वाक्य लिखा हुआ था। मजदूर अथवा अन्य दर्शक उस कार्टून को देखते, हँसते और चल देते थे।

हाँ, मिखाइल कोई कल्पित व्यक्ति नहीं, बल्कि वास्तव में उस कारखाने में काम करनेवाला एक मजदूर था।

सोवियत रूस की लंबी यात्रा किए एक भारतीय लेखक ने एक भेंट में मुझे बतलाया, "बंधु, रूस में कामचोर मजदूर को अधिकतर 'सस्पेण्ड' या 'डिसमिस' नहीं किया जाता। जो मजदूर अपने हिस्से का काम अपनी ड्यूटी में पूरा नहीं कर पाता, उसका कार्टून कारखाने के फाटक पर लगा दिया जाता है और

कार्टून के नीचे उसके वास्तविक नाम के साथ ड्यूटी से संबद्ध उसके दोष का उल्लेख कर दिया जाता है। कामचोर मजदूर स्वयं शर्मिन्दा हो जाता है और फिर नए उत्साह से अपने काम में लग जाता है।"

यों कोई चाहे, तो पूर्वाग्रह के वश होकर वहाँ भी इस प्रणाली की शिकायत भी कर सकता है। सुनकर झल्ला सकता है और कह सकता है—'छोड़िए, कम्युनिस्टों की बात मत कीजिए।'

मगर, मेरी दृष्टि में सचाई से गला छुड़ा लेने का यह प्रयत्न काफी और संगत नहीं है। कोई देश चाहे साम्राज्यवादी हो, या साम्यवादी—उसके भीतर जो अच्छाइयाँ हैं, हमें वे अच्छाइयाँ ग्रहण करनी चाहिए।

माना कि सोवियत रूस एक साम्यवादी मुल्क है, बल्कि यों कहा जाना चाहिए कि वही साम्यवाद का जन्मदाता है, वही साम्यवाद का जड़ है, पर चूँकि वह देश कम्युनिस्ट है, इसीलिए वह हर अर्थ में अयोग्य और निकृष्ट है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

यह मानना होगा कि रूस में महान औद्योगिक क्रांति हुई, वैज्ञानिक क्रांति हुई और रूस कल-कारखानों के मामले में अनेक देशों की सहायता कर रहा है। दूसरे देशों की बातें छोड़िए, भारत को रूस ने बड़े-बड़े कारखाने खोलने में बड़ी सहायता दी, चीन-भारत-युद्ध के समय चीन को रूस के प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने 'अपना बंधु देश' कहा, मगर अपने वादे के

अनुसार मिग विमान दिये, मिग विमान तैयार करने के कारखाने खोलने के लिए अपने तकनीकी जानकार दिये।

रूस ने सर्वप्रथम अपने यहाँ से एक मानव को अंतरिक्ष में भेजा। हम ऐसा नहीं कर सके। क्यों ?

इस क्यों का उत्तर है—हमारा औद्योगिक और वैज्ञानिक पिछड़ापन !

आज के युग में केवल भारत के लिए क्या, संसार के प्रत्येक राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि उसका औद्योगिक और वैज्ञानिक पक्ष काफी सबल हो। यही कारण है कि हमारे प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू बार-बार यह कहा करते हैं कि 'देश को आज कृषि-विशेषज्ञों और इंजीनियरों की आवश्यकता है। हमें टेक्निकल हैंड्स चाहिए।'

क्या आपने इधर जापान की सैर की है ?

नहीं ?

आज जापान को जाकर देखिए, पता नहीं चलेगा कि यहाँ कभी ऐटम बम भी गिरा था। ऐटम बम का नीला-नीला, तीखा और जहरीला धुआँ आकाश की ओर उठा था और लाखों लोग घंटे भर में मौत के घाट उतर गए थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व से ही जापान खिलौने बनाने के लिए प्रसिद्ध रहा है। बीच में युद्ध ने उसकी आत्मा को दबोच लिया था और आज जापान इस प्रकार उठ कर खड़ा हो गया है, मानों उसे युद्ध का धक्का कभी लगा ही नहीं। छोटे-छोटे

संकुचित लकड़ी के मकानों के बीच उठते बड़े बड़े ठोस मकान, जापान के नामी छोटे गृह्-उद्योगों के बीच विशाल आधुनिकतम कारखाने, इधर उपभोग्य वस्तुओं से भरपूर छोटी-छोटी दूकानें, तो बड़े-बड़े डिपार्टमेंट स्टोर, इधर जापानी वातावरण से अभि-भूत निवास-गृह तो उधर एयर-कंडीशंड प्रासाद एवं होटल, टूटती सड़कें, नीचे बनते मार्ग—सर्वत्र ऐसी भीड़ कि देखकर हैरानी होती है।

भागता चला जा रहा है जापान !

दौड़ता चला जा रहा है जापान !!

मशीनों का जापान ! उद्योगों का जापान !! मानवों का जापान !!!

ऐसा क्यों ?

क्योंकि जापान की जनता ने यंत्र-बल और श्रम-बल की महिमा पहचानी है। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहने से पिता पुत्र को भोजन नहीं देता, दूसरा देश हमारे देश को क्यों देगा भला ?

कहना पड़ता है—औद्योगिक क्रांति, जिंदाबाद !

विश्व-बैंक में किसी भी राष्ट्र का सिक्का होता है—सोना !

हम निर्यात नहीं करेंगे, तो अपने खाते में सोना कहाँ से पाएँगे ?

और, निर्यात तभी कर पाएँगे, जब उद्योग और श्रम की महिमा को स्वीकार करेंगे। निर्यात के अभाव में किसी भी

आधुनिक राष्ट्र की स्थिति आज क्या हो सकती है, इस संबंध में एक जापानी अर्थशास्त्री द्वारा कही गई एक कहानी सुन लीजिए !

बहुत से आदमियों को चेरी की कलियों का मनोरम दृश्य देखने के लिए जाते देख दो गँवार, जिनके नाम क्रमशः 'कुमा' और 'मात्सु' थे, ने भी विचार किया कि वे भी यह मनोरम दृश्य देखने क्यों न जाएँ ? और, चेरी की कलियाँ देखने का अनिवार्य साथी था 'साके' यानी मद्यपान। साके के लिए चाहिए पैसा और पैसे का उनके पास बिलकुल अभाव था। क्या करें, कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा था।

कुमा अपने को थोड़ा चालाक समझता था। उसने अपने मित्र को एक तरकीब सुझायी। बोला, "एक गैलन साके उधार लिया जाए, चेरी के उपवन में पहुँच कर उसे एक-एक प्याली में बाँटकर अच्छी कीमत पर बेचा जाए, जिससे उधार की रकम भी चुक जाए और अपने लिए भी कुछ साके बच जाए।"

मात्सु ने उसकी बात मान ली और साके भी उधार मिल गया। वक्त-जरूरत के लिए उन्होंने दस येन का एक सिक्का भी तजवीज कर लिया और दोनों चल पड़े।

मगर चलते-चलते मामला कुछ बिगड़ा। रास्ते में साके की मादक गंध प्यास न बढ़ाती तो और क्या करती ? कुमा ने कहा, "भाई मात्सु, आखिर हमें साके बेचना ही तो है। इस दस येन की साके खरीद कर मैं पी लूँ, तो भला क्या हर्ज होगा ?"

मात्सु बोला, "हाँ भाई, ठीक ही तो है। निकालो येन और पियो साके।"

मजा आ गया। मात्सु के हाथ में सिक्का और कुमा के हाथ में साकेदानी।

देखते-देखते मात्सु का भी दिल आ गया। उसने जीभ चटपटाते हुए कुमा से कहा, "लाओ मुझे भी एक प्याली साके और कीमत में लो यह येन!"

कुमा बोला, "क्यों नहीं, लो, पियो।"

फिर येन और साके की अदला-बदला चल पड़ी। एक बेचता, दूसरा खरीदता, दोनों ठाट से पीते। मुकीजिमा के चेरी-उपवन में पहुँचते-पहुँचते कुमा और मात्सु दोनों गहरी छान चुके थे। और, जब उन्होंने अपनी कमाई गिनी, तो वही दस येन का एक सिक्का बचा था।

इस प्रकार कहानी का मूल अभिप्राय यह है कि दोनों सारी साके न पीकर एक चौथाई ही पीये होते और तीन-चौथाई को बेचकर नफा किया होता, तो उनकी उधार-योजना सफल हो जाती।

और, जापान की जनता ने, जापान की सरकार ने कुमा तथा मात्सु जैसी भूलें नहीं कीं, इसीलिए आज जापान की उद्योग-शीलता का संक्षिप्त चित्र इस प्रकार है :

पौने दो करोड़ टन इस्पात, १०६ शिपयार्डों में १८ लाख टन के जहाज, ८०० टोपवे इञ्जन, तीन हजार सवारी के एवं इक्कीस

हजार माल गाड़ी के डब्बे, १३ लाख विभिन्न मोटरें, ३० लाख टन विविध रासायनिक खादें, करीब ८० लाख तकुओं के द्वारा सूत कपड़ा, ६० करोड़ घनफुट लकड़ी ! यह है मात्र आठ करोड़ की जनसंख्या वाले नन्हें से देश का हाल !

सन् ३० में देश-भर में करीब ६०० बैंक थे, जो परस्पर मिल जाने से अब लगभग ६० रह गए हैं, पर उनकी पूँजी है दो अरब रुपए और उनके पास डिपाजिट हैं एक खरब रुपए से भी अधिक ! इन बैंकों के अतिरिक्त सैकड़ों-हजारों को-आपरेटिव सेविंग तथा क्रेडिट बैंक हैं, जो देश के व्यवसाय की जान हैं।

भारतीय होने के नाते आपका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आप अपने श्रम बल से, ज्ञान-बल से भारत की औद्योगिक प्रगति में हिस्सा बँटायें।

अगर आप कारखाने में काम करते हैं, तो पूरी कर्त्तव्य निष्ठा के साथ काम करें, अपनी असावधानी से मशीनों को क्षति न पहुँचायें। उत्पादन के लक्ष्य को पूरा करने की प्रतिज्ञा लीजिए।

अगर आप विद्यार्थी हैं, तो अभियंत्रण-कला और विज्ञान में अपनी रुचि बढ़ाइए। यदि आप विज्ञान पढ़ते हैं, तो अपनी कुशलता बढ़ाइए, अपनी प्राविधिक तेजस्विता पर शान चढ़ाइए। सुखी और समृद्ध भारत के रेखा चित्रों में रंग भरने की चेष्टा कीजिए।

आप ऐसी राजनीति में न पड़ जाइए, जिसमें सक्रिय भाग लेने के कारण आपका भविष्य खराब हो जाए। कहीं ऐसा न

हो कि न आप इधर के रहें और न उधर के। जरा-जरा सी बात पर कालेज या स्कूल में हड़ताल मत कर दें। अनुमान कर लीजिए कि छात्र-एकता के नाम पर आपका विश्वविद्यालय एक माह के लिए बंद हो जाता है, तो सोचिए, आपका अध्ययन कितना पीछे पड़ जाता है। आंचलिक राजनीति में पड़ जाने के कारण अगर इंजीनियरिंग के सौ छात्रों की पढ़ाई नुकसान हो जाती है, तो समझिए, देश को तत्काल इंजीनियर नहीं मिले और देश को आज इन्हीं की जरूरत है।

देश के मजदूर साथियो !

तुम समय पर कारखाने जाकर देश की जय बोलो !

तुम मशीनों की हिफाजत करके देश की जय बोलो !!

तुम उत्पादन के लक्ष्य पूरा करके देश की जय बोलो !!!

देश के छात्रो !

तुम विज्ञान के अध्ययन में आगे बढ़ कर देश की जय बोलो !

तुम समय का सदुपयोग करके देश की जय बोलो !!

तुम महान वैज्ञानिक और इंजीनियर बन कर देश की जय बोलो !!!

यह विज्ञान और यंत्र का युग है। श्रम बल से यंत्र-बल का उपयोग करो। खूब खटो, अथक परिश्रम करो और मुसकुरा कर श्रम की बूँदों को पोंछ कर धरती पर फेंक दो। हर बूँद से हमें स्वर्ण-पिंड प्राप्त होगा।

●●●

६. ये हरे खेत लहराये

"भगवान ने मिट्टी में ही प्राण अंकुरित किये।"

—वेद वाक्य

बचपन में किसी से एक कहानी सुनी थी। इस संदर्भ में वह कहानी याद आ गई, लीजिए आपको भी सुनाता हूँ!

एक वृद्धा थी। उसके एक ही पुत्र था। जब वह जवान थी, तभी उसके पति का स्वर्गवास हो चुका था। उसने बेटे का मुँह देखा और दूसरी शादी नहीं की। बड़े परिश्रम से उसने बेटे को पाला, पढ़ाया-लिखाया और जब वह घर सँभालने योग्य हो गया, तब उसका व्याह कर दिया।

जब चाँद-सी बहू घर में आई, तो बुढ़िया की खुशियों का अंत न रहा। नई बहू बराबर अपने पति से नए-नए गहनों की फरमाइश करती। बुढ़िया का बेटा अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए अपने गाढ़े पसीने की कमाई से जेवर खरीद दिया करता था। मगर वह इस बात का भी खयाल रखता कि उसकी माँ को किसी प्रकार का कष्ट न हो। वह बार-बार अपनी पत्नी से कहा

करता—"माँ को समय पर भोजन देना। वह तमाकू पीती है। चिलम चढ़ाकर दिया करना।"

नई बहू जेवरों की शौकीन अवश्य थी, मगर उसने सास के आदर में कभी कोई कमी नहीं की। बीच में कोई बड़ा त्योहार आया, तो उसने अपने पति द्वारा दिये गए सारे आभूषण धारण किये। उसका अंग-अंग खिल उठा। ठीक ही कहा गया है—लीपने-पोतने से मकान चमकता है, पहनने-ओढ़ने से औरत चमकती है।

न जानें, क्या हुआ कि अपनी पुत्रवधू को इस प्रकार आभूषणों से लदी देखकर वृद्धा को ईर्ष्या हो आई। उसने सोचा, मैंने बेटे के लिए इतना किया, मगर उसने अपनी कमाई से एक भी जेवर लाकर मुझे नहीं दिया। अपनी पत्नी का शरीर तो गहनों से लाद दिया है।

वृद्धा से जब यह नहीं देखा गया, तो उसने अपने हृदय के भावों को पड़ोसिनों से कहा। पड़ोसिनें चुप न रह सकीं। उन्होंने यह बात वृद्धा के बेटे तक पहुँचायी। सुन कर बेटे ने माँ से कहा, "माँ, तुम्हें जेवरों से क्या मतलब? मजे में खाओ-पीयो और भगवान का नाम लो।"

मगर वृद्धा ने जिद्द की। बोली, "तू मेरे कोख से जनमा है। मुझे ज्ञान मत दे। ला अपनी पत्नी के सारे जेवर, मैं पहनूँगी। तू अपना खाना अपने पास रख। मैं खाना नहीं खाऊँगी, मुझे जेवर चाहिए।"

बेटे को भी जाने क्या सूझा कि उसने अपनी पत्नी के सारे जेवर माँ को पहना दिये और पत्नी से कह दिया—"माँ को खाना मत देना।"

वृद्धा सारे जेवर धारण कर एक कोने में बैठ रही। अब उसे संतोष का अनुभव हो रहा था।

इस प्रकार कई रोज बीत गए।

बुढ़िया एकाएक क्षुधा-वेदना से बिलखने लगी। बेटे ने पूछा ! 'क्यों माँ, किसलिए रोती हो ?'

वृद्धा बोली, "जेवर उतार ले और अन्न से भेंट करा।"

बस कहानी यहीं समाप्त हो जाती है। अभिप्राय यह है कि जीवन में अन्न की महत्ता सर्वोपरि है। कहा गया है कि पेट के लिए इंसान देश छोड़ कर परदेश जाता है।

हमारे देश के सामने अन्न की समस्या है। आबादी हमारी बड़ी है और अन्न का उत्पादन कम है। उस पर प्राकृतिक प्रकोप के शिकार हम बराबर हुआ करते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ और सूखा—ये चार स्थितियाँ अन्नोत्पादन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट हैं। और, उस पर भी यदि हमारा ध्यान कृषि की ओर न जाए, तो फिर क्या होगा ? ऐसे भी तो हमारे देश में बर्मा से चावल, इटली से गेहूँ आदि खाद्य-पदार्थ मँगाये जाते हैं और हमारे देश का सोना दूसरे देशों में जाता रहता है।

क्या आपने एफ० ए० ओ० का नाम सुना है ?

नहीं ? तो सुन लीजिए।

एफ० ए० ओ० का पूरा नाम है—फूड एण्ड एग्रीकल्चर आर्गेनिजेशन अर्थात् खाद्य एवं कृषि-संगठन। संसार के पचास देशों ने मिल कर इस संस्था की स्थापना सन् १९४८ ई० में की और इस संस्था से संबद्ध कृषि विशेषज्ञों ने बतलाया कि संसार में तिहत्तर प्रतिशत लोगों को या तो भरपेट भोजन नहीं मिलता या वे पौष्टिक आहार से वंचित रहते हैं। इनमें पिछड़े हुए देशों के लोगों की संख्या अधिक है।

और इसका मुख्य कारण है—उत्तम ढंग से कृषि-कार्य का नहीं होना।

आपने सुना होगा, देखा होगा, बंगाल में अकाल पड़ा, बिहार में अकाल पड़ा और सरकार अकाल पीड़ित लोगों को अन्न से पर्याप्त सहायता न कर सकी।

घर में बैठ कर, होटलों में बैठ कर, सड़कों पर या लॉन में टहलते हुए सरकार को दोषी करार देना तो बड़ी आसान बात है। मगर, हमारी सरकार को चलाता कौन है ? आप कहेंगे—मंत्रिगण सरकार चलाते हैं।

मगर सरकार के पीछे है कौन ?

जनता।

जनता है न ? अगर जनता अपने दायित्वों को न समझे, तो सरकार क्या कर पाएगी। चलते तो आप पैरों से हैं। ठीक बात है न। मगर, यदि आप अपनी आँखों से सड़क पर देखते हुए न चलें और आपको किसी सवारी से चोट लग जाए, आप

गड्ढे में गिर पड़ें, तो आप दोष पैरों को देंगे या अपनी आँखों को ?

प्रायः यह देखा जाता है कि वैज्ञानिक जानकारी के अभाव में गाँव के किसान सघन खेती तो नहीं ही कर पाते, कृषि-विज्ञान की शिक्षा पाये हुए युवक भी गाँव में कृषि-कार्य न करके शहरों में नौकरी के लिए दौड़े चले आते हैं। वे इस कहावत को शीघ्र ही भूल जाते हैं !

उत्तम खेती मध्यम बान।
निषिध चाकरी भीख निदान ॥

संभवतः साधारण लोग इस रहस्य को नहीं जानते कि भारत पर चीन ने जो हमला किया, उसका एक मुख्य कारण चीन में खाद्य-संकट भी था। चीन से बाहर भेजे जाने वाली अपनी प्रचार-पत्रिकाओं में चीन की सरकार कृषि के क्षेत्र में केवल लंबी छलांग की बातें तो करती थी, मगर वास्तव में देश के भीतर भयानक खाद्य-संकट था। यही कारण है कि चीन से लगभग सत्तर हजार भूखे चीनी शरणार्थी सीमा पर लगे काँटे-दार तारों का घेरा फाँद कर हाँगकाँग में घुस आए। इस प्रकार जब चीन की पोल खुलने लगी, तब वहाँ की सरकार ने जनता का ध्यान बाँटने के लिए भारत से युद्ध छेड़ दिया।

मगर, भारत और चीन की जनता की स्वाधीनता में कोई समानता नहीं है। हमें पूरी स्वाधीनता है, जब कि चीन की जनता को नाम मात्र की भी स्वाधीनता नहीं है। वहाँ का मजदूर

अथवा किसान-वर्ग अपनी इच्छा से कोई काम नहीं कर सकता। हम देश के विकास में स्वेच्छया से हाथ बटा सकते हैं और ऐसे कार्यों में सरकार हमारी हर संभव सहायता करने को तत्पर है।

हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम जापानी ढंग से धान की खेती क्यों करें, हलों और बैलों की अपेक्षा ट्रैक्टरों से खेतों को क्यों जोतें। पुरानी परंपरा की रक्षा के नाम पर अपनी नस्ल का विनाश करना परंपरा की रक्षा नहीं कहा जा सकता। युग की स्थिति के अनुसार हमें पुरानी और नई परंपरा खुले दिल से समन्वित करके देखना चाहिए। प्राचीन से जो कुछ ग्राह्य है, उसे ग्रहण कर हम नवीन को देंगे, नवीन के अनुसार प्राचीन में जो त्याज्य है, हम उसका परित्याग कर देंगे।

एक जमाना था, जब लोग पाषाण-शस्त्रों से युद्ध करते थे। जमाना उससे आगे बढ़ा, तो लोगों ने लोहे को पहचाना, लोहे का उपयोग किया। लोहे से मार-काट करते और कृषि के औजार बनाये। यहाँ तक कि एक वक्त था, जब मनुष्य न तो अग्नि को जानता था और न यही जानता था कि इस संसार में एक और तत्त्व है, जिससे प्रकाश किया जा सकता है—सूरज का अभाव उस प्रकाश के लिए नहीं खटकता। लेकिन, जब मनुष्य ने एक रोज जंगल में दो बाँसों को आपस में रगड़ खाकर आग की चिनगारियाँ निकलते देखीं, तो उसने अनुमान किया, यह एक ऐसा तत्त्व है, जिससे मांस पकाया जा सकता है, जिससे रोशनी की जा सकती है।

आप मानव-विकास का इतिहास पढ़ें, तो आपको ज्ञात होगा कि मनुष्य ने वनस्पतियों का महत्त्व एक विचित्र प्रकार से समझा। उसने सोचा, नदियों और सागरों में रहने वाली मछलियाँ क्या खाकर जीवित रहती हैं? उत्तर मिला—सेंवार! और, तब मनुष्य ने शाक-भाजी खाना सीखा।

आज अगर हम उन्हीं परंपराओं को निभाना चाहें, तो बात नहीं बनेगी। आज का संसार ज्वालामुखी के मुख पर बैठा हुआ है, जानें कब विस्फोट हो जाए, कहाँ से ढेले की तरह एक ऐटम बम गिर जाए।

तो आज ऐटम बम का जवाब अच्छा भाला, अच्छो लाठी, अच्छी तलवार नहीं हो सकती। आपने सुना होगा कि स्वचालित अस्त्रों के अभाव में बलिदान की सारी भावना होते हुए चीन ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब भारतीय सिपाहियों को नई चौकियाँ खाली करनी पड़ीं। यह बात दूसरी है हम चीन से युद्ध करने को कदापि तैयार नहीं थे। विवश होकर हमें अपने मित्र देशों से अत्याधुनिक शस्त्रों की सहायता लेनी पड़ी।

सेना का दल जब मोरचे पर लड़ने के लिए जाता है, तब उसे दो बातों की सख्त हिदायत दी जाती है। पहली हिदायत यह कि जान दे दो, मगर अपने शस्त्रागार को दुश्मनों के हाथों में न पड़ने दो। और, दूसरी हिदायत यह कि खाद्य-सामग्री के व्यय में संतुलन रखो—संभव है समय पर युद्ध से उत्पन्न दिक्कतों के कारण तुम्हें खाद्य-सामग्री न पहुँचायी जा सके।

इसका अर्थ यह नहीं होता, जैसा कि दूसरी हिदायत से स्पष्ट है, कि सेना भूखों रह कर जंग पर दुश्मनों का मुकाबला करें। इसका मतलब यह है कि फिजूलखर्ची से अगर तुम्हारी खाद्य-सामग्री घट गई, तो जान के लाले पड़ने लगेंगे। देश की वर्त्तमान स्थिति को देखते हुए हमें युद्ध-स्तर पर कृषि-कार्य में हाथ बटाना होगा। युद्ध की पहली पंक्ति सेना होती है और दूसरी पंक्ति जनता।

उचित तो यह है कि जब हमारा देश युद्ध में व्यस्त न हो, तब भी हमें कृषि-कार्य युद्ध-स्तर पर ही करना चाहिए। अगर देश के खर्च से अन्न बच जाएगा, तो हम उसे दूसरे देशों को निर्यात करेंगे और बदले में विदेशी मुद्रा प्राप्त करेंगे।

कृषि कार्य को बढ़ाने से हमें और भी लाभ हैं। सच पूछिए, तो बागवानी और पशु-पालन को भी हमें कृषि-कार्य ही समझना चाहिए। फल भी हमारी आमदनी के मुख्य साधन हैं। एक उदाहरण लीजिए :

सन् १९६२ ई० में भारत से विभिन्न देशों को २७ लाख रुपए का आम भेजा गया। सन् १९६१ ई० में २० लाख रुपए का आम भेजा गया। इस अवधि में १९ लाख रुपए के आम की चटनी विदेशों में बेची गई। लीची के निर्यात से भी हमारे देश को काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाती है।

अगर हम अपने पशु-धन की रक्षा करें, तो उससे भी हमारे देश की आमदनी बढ़ सकती है। आज हम विदेशों में बने दूध

के सामान अपने देश में मँगाते हैं। हम इस क्षेत्र में उन्नति करें, तो हम भी ऐसे सामान विदेशों को भेज सकते हैं। संसार में डेनमार्क एक ऐसा देश है, जो मात्र विदेशों को दुग्ध-पदार्थ भेजकर अरबों की संख्या में विदेशी मुद्रा प्राप्त करता है।

हमें अपने वनों की भी रक्षा करनी चाहिए और वन-संपदा की वृद्धि के तरीके अपनाने चाहिए। वन-संपदा की अभिवृद्धि का मामला ऐसा है, जिसमें राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, आर्थिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सोचने की आवश्यकता है। धरती पर वृक्षों की छतरी बनाये रखने से भूमि-कटाव कम होता है, जल-धाराएँ नियमित और निरंतर बहती हैं, कृषि-समृद्धि बढ़ती है। वनों से मिलनेवाले कच्चे पदार्थ औद्योगिक विकास में सहायक होते हैं। ये चीजें राष्ट्र की समृद्धि एवं खुशहाली बढ़ाने तथा उसका अस्तित्व बनाये रखने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

अब भारत स्वाधीन है, मगर हमारे और भी नये मोर्चे हैं :

हम विज्ञान की सहायता से उन्नत कृषि करें !

हम श्रम की सहायता से अन्न संकट दूर करें !!

अगर हम ऐसा न कर सकें, तो याद रखें, लोहे का मोरचा उसी से पैदा होकर उसी को खाता है। वैसे ही नई जागृति के दुश्मन अपनी ही हठधर्मिता के कारण दुःख पाते हैं।

७. कंधे से कंधा : कदम से कदम

"मैंने यह अनुभव किया है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन उस परम पावन विराट् जीवन का प्रवेश-द्वार हैं, जहाँ हमारे समस्त संतापों, अभावों और विकृतियों का अंत है। पर उस प्रवेश-द्वार की मूल चाबी है—मानव का मानव से सहयोग।"

—मार्टिन लूथर

वह व्यक्ति अमरीका से भारत-यात्रा के लिए आया था और आज भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू से बातें कर रहा था। भारत के बारे में बातें होने लगीं, तो नेहरूजी ने एकाएक खिन्न होकर कहा, "बड़े खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि भारतवासियों में अब पहले जैसी आदर्शवादिता नहीं रह गई है। मैं सोचता हूँ, कहाँ चली गई वह आजादी की लड़ाई के दिनों की लौ? उस वक्त देश को स्वतंत्र करना ही सब कुछ था; और आज लोगों को निजी शिकवा-शिकायतों से ही फुर्सत नहीं।"

नेहरूजी एक बड़ी-सी गद्दीदार कुर्सी पर बैठे हुए थे। अमरीकी यात्री ने एकाएक पूछा, "क्या भारत के प्रधान मंत्री-पद के अनुभव आपकी आशा के अनुरूप निकले?"

नेहरूजी ने गद्दी से सिर सटाकर आराम से बैठने की कोशिश की, फिर बोले, "जब मैंने प्रधान मंत्री का पद सँभाला, तब उसके बारे में मैंने शायद ही कुछ सोचा होगा। और, शायद यह अच्छा ही हुआ। हाँ, मैंने उसे आसान काम तो कभी नहीं समझा था। मैं जानता था कि हमें कामयाबी भी मिलेगी, नाकामयाबी भी। हाँ, उम्मीद यही थी कि नाकामयाबियाँ कम मिलेंगी।"

और इस प्रकार के प्रश्न करनेवाले अमरीकी यात्री थे, अमरीका की प्रसिद्ध पत्रिका 'सैटर्डे-रिव्यू' के संपादक श्री नार्मन कजिन्स।

नेहरूजी ने श्री कजिन्स को जो उत्तर दिया, उसका अंतिम वाक्य विचारणीय है। उन्होंने कहा—हाँ, उम्मीद यही थी कि नाकामयाबियाँ कम मिलेंगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि नेहरूजी ने आशा से अधिक नाकामयाबियों का अनुभव किया। मगर, इसका मूल कारण क्या है? अगर हम इसके मूल कारणों पर विचार करें और नेहरूजी की आंतरिक बेचैनी पर विचार करें, तो पता चलेगा कि आज़ादी मिलने के बाद नेहरूजी को अपने साथियों और जनता से अपेक्षित सहयोग नहीं मिला। देश में व्यक्तिगत प्रश्न अधिक पैदा हुए, लोग व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्त्ति में लग गए, लोगों ने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्त्ति को अपना हक़ समझा—देश की प्रगति-यात्रा में कंधे-से-कंधा और क़दम-से-क़दम मिला कर चलने के आदर्श को त्याग-सा दिया।

नेहरूजी के भावों में जो दुःख व्यक्त हुआ, उसका मूल कारण रहा—सहयोग-भावना का नितांत अभाव।

यहाँ यह प्रसंग स्मरणीय है कि अभी कुछ साल पहले जब नेहरूजी ने अमरीका की यात्रा की थी, तो एक पत्रकार ने उनसे पूछा, "अभी आपके सामने क्या-क्या सवाल हैं?"

नेहरूजी बोले, "मेरे सामने चौवालिस करोड़ सवाल हैं!"

"कृपया इसे स्पष्ट कीजिए।"

नेहरूजी ने कहा, "भारत चौवालिस करोड़ लोगों का देश है। हर व्यक्ति मेरे लिए एक सवाल है।"

आप क्या सोचते हैं, यह उत्तर नेहरूजी की ओर से कोई प्रसन्नता की अभिव्यक्ति थी? अगर आप ऐसा सोचते हैं, तो भूल करते हैं। सचाई यह है कि उनका यह उत्तर उनकी परेशानियों का चित्र था। यहाँ तो चौवालिस करोड़ लोग नेहरूजी से अपनी समस्याओं का हल चाहते हैं, खुद ऊपर उठकर, आगे बढ़ कर, सहयोग-भाव से मिल-जुलकर कुछ करना नहीं चाहते।

खैर, तो एकाएक चतुर पत्रकार श्री कजिन्स ने नेहरूजी से पूछा, "आदरणीय प्रधान मंत्रीजी, भारत को गाँधीजी की विरासत बहुत बड़ी है; और शायद इतिहास कहेगा कि उनकी सबसे कीमती विरासत खुद आप हैं। पर, भारत को आपकी विरासत कौन है?"

प्रधान मंत्री ने गहरी साँस ली, फिर बोले, "भारत को मेरी विरासत कौन? ...अपनी हुकूमत कर सकने वाले चौवालिस

करोड़ भारतीय···। कम-से-कम मुझे तो यही उम्मीद है। लोग अक्सर पूछते हैं, मेरा उत्तराधिकारी कौन होगा? शायद लोग चाहते हैं कि मैं किसी को या किन्हीं को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दूँ। पर, मैं तो इस दृष्टि से सोचता नहीं। मेरा विश्वास थोड़े-से नेताओं के बजाय सारी जनता को स्व-शासन चलाने की शिक्षा देने में है। मैं तो मानता हूँ कि मैं लाखों लोगों के साथ तीर्थ यात्रा कर रहा हूँ। मुख्य चीज है—मंजिल और उस मंजिल की ओर चौवालिस करोड़ लोगों का आगे बढ़ना।"

उपरोक्त विचार हैं, भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के। मगर, वास्तविकता क्या है? हम जानते ही नहीं कि चौवालिस करोड़ लोगों के सहयोग की शक्ति कितनी व्यापक हो सकती है। अगर हम यह कहें कि हम इसे जानते हैं, तो भी मानना पड़ेगा कि हम सहयोग की शक्ति का उपयोग नहीं करते या सहयोग के रास्ते से कतरा जाया करते हैं।

साधारण सी बात है। मैंने देखा है, देश के जनप्रिय नेता का भाषण हो रहा है, लाखों लोगों की भीड़ है, मगर वस्तुतः भाषण को सुनने वाले हजार-पाँच सौ लोग हैं। बाकी लोग या तो रूमाल में रखकर मूँगफली खाते होते हैं या दोस्तों के बीच बैठे वैयक्तिक मामले सुलझाते रहते हैं, कहकहे लगाते रहते हैं।

कहा गया है कि कलियुग में संघ ही शक्ति है। मगर, हम इस सूत्र को व्यवहार में परिणत नहीं करते। हाँ, एक काम हम

अवश्य करते हैं, अपनी प्रत्येक समस्या के लिए सरकार को दोषी ठहराते हैं।

साधारण सी बात लीजिए। ऑल इंडिया रेडियो के लिए मुझे उपभोक्ता सहकारी भंडार पर एक रूपक लिखना था। अधिकारियों ने कहा कि किसी ऐसे ही स्टोर के मैनेजर से इंटरव्यू ले लीजिए। मैं एक ऐसे ही स्टोर में पहुँचा। व्यवस्थापक से भेंट हुई। बातें होने लगीं। उन्होंने कहा, "काम तो बड़ा अच्छा है। सरकार भी हमारी सहायता करने को तैयार है। मगर, मुहल्ले वाले सहयोग नहीं करते। पहले लोगों में जोश था, तो स्टोर के मेम्बर भी दिलचस्पी लेते थे, मगर अब यह बात नहीं रही। ग्राहकों को भी सहयोगी भंडार की उपयोगिता समझाता हूँ, मगर कोई ध्यान नहीं देता। लोग समझते हैं कि ये सारी बातें मैं उन्हें अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए सुना रहा हूँ।"

बहुत पहले से भारत सरकार की यह योजना थी कि जगह-जगह सहकारी भंडार खोले जाएँ, ताकि लोगों को उचित कीमत पर सामान मिला करे, लेकिन जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तब इस योजना को शीघ्र लागू करना और भी आवश्यक हो गया। खाद्य एवं कृषि-विकास निदेशालय से प्रत्येक प्रांत के उच्च अधिकारियों को इस आशय के पत्र भेजे गए, मगर परिणाम असंतोषजनक ही रहा। संकटकालीन स्थिति के कारण जब संसद में अतिरिक्त कर-प्रस्ताव पेश किया गया, तो लोगों ने बड़े

जोरों से सरकार का विरोध किया। और, स्थिति यह थी कि देश के कोने-कोने में यह नारा गूँज रहा था—

उठो देश के भामाशाहो, दौलत दे दो !

उठो किसानो ! धरती की अब माँग सजा दो !!

देश की स्थिति के साथ और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए किस प्रकार सहयोग किया जाना चाहिए इसका एक ज्वलंत उदाहरण पेश किया अल्जीरिया के मुसलमानों ने।

लगभग आठ साल पहले १ नवंबर, १९५४ को अल्जीरिया की लड़ाई शुरू हुई थी। सात वर्ष से भी अधिक समय तक अल्जीरियाई और फ्रांसीसी सेनाएँ अल्जीरिया के रेगिस्तानों में टकराती रहीं और इस लंबी लड़ाई में करीब दो लाख अल्जीरियाई पुलिस, आठ लाख अल्जीरियाई मुसलमान, स्वतंत्र अल्जीरियाई सरकार के एक लाख साठ हजार सैनिक, अंठानबे हजार फ्रांसिसी सैनिक और अल्जीरिया के दो हजार यूरोपियन निवासी मारे गए। यह युद्ध अल्जीरियाई लोगों के लिए तो स्वतंत्रता प्राप्ति का युद्ध था, लेकिन फ्रांस को यह युद्ध बहुत ही मंहगा पड़ा। अल्जीरिया में फ्रांसिसी सेनाओं पर उसे रोज लगभग डेढ़ करोड़ रुपए खर्च करने पड़े अर्थात् प्रतिवर्ष पाँच सौ करोड़ रुपए। इन सवा सात वर्षों में फ्रांस को अल्जीरिया पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए चार हजार करोड़ रुपयों से भी अधिक खर्च करना पड़ा। इसके सिवा अल्जीरिया के युद्ध की वजह से फ्रांस में सदा राजनीतिक उथल-पुथल मची रही।

अल्जीरियाई राष्ट्रवादियों की सरकार को भी इस युद्ध में करोड़ों रुपए खर्च करने पड़े। अल्जीरियाई लोग जहाँ फ्रांस को टैक्स देते थे, वहाँ गुप्त रूप से वे अल्जीरिया की राष्ट्रवादी सरकार को भी टैक्स देते थे। राष्ट्रवादी सरकार को गुप्त रूप से प्रायः ग्यारह-बारह करोड़ रुपए प्रति वर्ष टैक्स में मिल जाते थे। ऐसी ही स्थिति में राष्ट्रवादी सरकार ने एक बार अल्जीरिया के लोगों से सिगरेट छोड़ देने का आग्रह किया और वह पैसा जो सिगरेट पर खर्च होता है, उन्हें देने की अपील की। सबने इस आदेश का पालन किया। ऐसा उदाहरण कठिनाई से ही मिलेगा।

भारत की राष्ट्रीय चेतना समता की चेतना है, और वह समता बाहर से नहीं आकर भीतर से आएगी। मगर, हम वहाँ समता ला कहाँ पा रहे हैं? हमने कभी बड़े शौक से प्रभात फेरी करते हुए गाया था—

> कदम-कदम बढ़ाये जा, खुशी के गीत गाये जा।
> ये जिंदगी है कौम की, कौम पर लुटाये जा॥

पर देखता हूँ, पड़ोसी बीमार है, हम उसका हाल पूछने नहीं जाते। मुहल्ले की गली गंदी हो गई है, कारपोरेशन को गालियाँ दे रहे हैं, मगर मिल-जुलकर हम मुहल्ले की सफाई नहीं कर सकते। मुहल्ले में हैजा फैला है, हम रोगियों की सेवा नहीं करते, अपने घर में बैठ जाते हैं। स्टेशन पर ट्रेन रुकी है। हम

उछल कर सामान सहित अंदर पिल पड़ते हैं। भले ही हमारे कारण किसी अन्य यात्री को चोट लगे। उसका सामान नष्ट हो जाए। किसी महिला यात्री का बच्चा 'पानी-पानी' चिल्ला रहा है, मगर हम डब्बे से बाहर निकल कर नल से एक लोटा पानी नहीं ला दे सकते। जब कि सचाई यह है कि जब तक हम सहयोग-भावना का साक्षात्कार नहीं कर पाएँगे, तब तक हम संस्कार, संप्रदाय, परंपरा और आप्त वचनों की रक्षा नहीं कर पाएँगे। व्यक्तिगत सुख के त्याग से यदि सामूहिक सुख मिलता हो, तो जो बुद्धिमान होगा, वह सामूहिक सुख के लिए व्यक्तिगत सुख का लाभ कर देगा। महत्त्व, सिद्धि एवं सफलता के जाज्वल्यमान परकोटों के भीतर निवास करने के लिए एक सहयोगी हृदय की ही आवश्यकता है। हमारे पास जो भी तेजस्विता है, अगर हम उसे केवल वैयक्तिक निधि समझते रहें, तो समाज का उससे कोई लाभ नहीं होगा और जब समाज उससे कोई लाभ नहीं उठा पाएगा, तब हमारे तेजस्विता में बिखराव आ जाएगा। हम सीधे छिटक जाएँगे—निर्दिष्ट स्थान नहीं बना सकेंगे; क्योंकि अंततः व्यक्ति अकेले में केवल रिक्त है और कुछ नहीं।

कौम को मजबूत बनाने वाली सबसे पौष्टिक खाद है—सहयोग। कदम से कदम और कंधे से कंधा मिला कर चलने की चिरन्तन भावना। बहुत प्रतिभासंपन्न होते हुए भी महात्मा गाँधी कुछ भी नहीं कर पाते, यदि सम्पूर्ण भारतवासियों का उन्हें

सहयोग न मिला होता। आज जब देश और कौम के विकास की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हैं, हमें सहयोग-भावना की अशेष शक्ति की महत्ता स्वीकार करते हुए आचरण-बल से उनका हल ढूँढ़ निकालना होगा।

●●●

८. एकता का प्रकाश-रथ

"इस समय देश में एकता की आवश्यकता है। ऊपर-ऊपर की एकता नहीं अंदरूनी एकता यानी सामाजिक और आर्थिक दोनों प्रकार की एकता होनी चाहिए।"

—आचार्य विनोबा भावे

एक रोज धर्मराज युधिष्ठिर से किसी ने पूछा, "महाराज, आप कितने भाई हैं?"

युधिष्ठिर महाराज ने झट उत्तर दिया, "वैसे तो हम पाँच भाई हैं। लेकिन, यदि हम पर कोई बाहर की शक्ति आक्रमण करे, तो हम एक सौ पाँच भाई हैं।"

युधिष्ठिर महाराज का यह उत्तर-वाक्य एकता की अभिव्यक्ति का परम चरम प्रतीत होता है; एकता का ऐसा शोभन संदेश कहीं और आसानी से मिलेगा क्या?

हम विस्तारवादी नहीं हैं, हम किसी देश पर आक्रमण करना नहीं चाहते, मगर यदि हम पर कोई आक्रमण करे, हमारे मौलिक अधिकारों का हरण करना चाहे, तो उस वक्त यदि हमें

कोई शक्ति जय और जीत दिला सकती है, तो वह शक्ति है केवल एकता।

पिछली बार जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया, तब जर्मनी की सैनिक शक्ति के आगे रूस की सैनिक शक्ति बहुत कमजोर थी। जर्मनी की सामरिक प्रगति देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानों वह देश रूस को इस प्रकार हड़प लेगा, जैसे कोई सड़क पर पड़ा बटुवा उठा कर चल देता है। मगर, इतिहास ने बतलाया कि रूस की विजय हुई। मगर, वह विजय किस शक्ति के कारण हुई ?

वह शक्ति थी, एकता की शक्ति !

जर्मनी की ओर से केवल जर्मन सेना लड़ती थी, मगर रूस की ओर से सारी रूसी जनता लड़ती थी। जिस समय मास्को की जनता को यह सूचना मिली कि अपनी तेज रफ्तार के कारण जर्मन सैनिक मास्को में घुस पड़ेंगे और घुसना ही चाहते हैं, उस वक्त खाना पकाती रूसी महिलाएँ खाली हाथ घरों से बाहर निकल आई थीं और उन्होंने एक स्वर से कहा था—"हम जीते जी जर्मन सेना को मास्को में नहीं रुकने देंगी।"

यह स्वर रूस की नारियों का स्वर नहीं, जनता की एकता का स्वर था। एकता के प्रकाश-रथ पर आरूढ़ होकर रूस की जनता ने जर्मनी को पीछे खदेड़ दिया था।

यहाँ हमें महान उपन्यासकार बोरिस पास्तरनाक की एक बोध-कथा याद आती है। वह बोध कथा इस प्रकार है :—

भीषण झंझावात! प्रचंड वायु के झोकों से धरती सिहर गई। आकाश में उधर बादल भी गरज उठे, बिजली कड़की और बारिश होने लगी। हवा क्रुद्ध हो उठी थी—सूँ सन्-सन्—उसके रोष से पेड़ काँप-काँप कर झुक जाते थे। रह-रह कर वे अपनी शाखाएँ फैला देते, मानो रूठी हवा को अपनी बाहों में भर कर अपना प्यार-दुलार उस पर उड़ेल देना चाहते हों—उसे मना लेना चाहते हों।

पर, वहाँ मानव का निवास न था। ईर्ष्या, द्वेष, कलह इन सबसे अनजान सिर्फ भोले बल-पशु ही वहाँ विचरते थे। उनमें बड़ा प्रेम था—एक दूसरे के प्रति अगाध स्नेह था; लगाव था। प्रकृति का यह रौद्र रूप उन्होंने कभी नहीं देखा था। अब देखा, तो सहम गए। प्राणों का मोह प्रबल हो उठा। दौड़ कर आश्रय लेने गुफा में जा पहुँचे, जहाँ वनराज रहता था।

सबेरे तूफान थम चुका था। सदा के समान मीठी-मस्त बयार बह रही थी। सर्वत्र शांति थी; प्रकृति का रोष मिट चुका था। लेकिन, वहाँ उस रोष के चिन्ह तो अभी भी वर्त्तमान थे। वनराज ने वायु के झोंकों से धराशायी हुए बड़े-बड़े वृक्षों को देखा और उन्हें सबको दिखाकर कहा, "देखो, तूफान में विनष्ट हुए इन सभी वृक्षों की जड़ें या तो सड़ गई हैं अथवा खोखली हो गई हैं। जिनकी जड़ें मजबूत हैं, वे पेड़ अभी भी कैसे स्थिर अचल खड़े हैं।

अगर हमारी एकता की जड़ कमजोर है, तो आपत्तियों का

साधारण-सा झोंका भी हमें उखाड़ फेंकेगा। अपने जीवन काल में विश्वकवि रवि बाबू भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति से परिचित थे। लेकिन, इस पर भी वे आशा करते थे कि इसके लिए कुछ किया जा सकता है। हाँ, यह कार्य भले ही धीरे-धीरे हो। रवि बाबू सोचते थे कि जब तक हम इस 'होने' की बाट निहारें, तब तक जनता की पीड़ा और निराशा के प्रति हम अपने अंदर चेतना उत्पन्न कर लें। वे जनता को निराशा और दुःख दूर करने की बात नहीं कहते, वे उसके प्रति अपनी चेतना को जगाने की बात कहते हैं। फिर वह चाहे चिंतन से हो, कविता से हो या एकता के भाव से। ईश्वर से उनकी प्रार्थना थी :—

"मेरे प्रभु,
मेरे देश की भूमि और जल
वायु और फल मीठे हों,
मेरे देश के घर और बाजार,
जंगल और खेत भरे-पुरे हों,
मेरे देश के वादे और आशाएँ
कर्म और वचन सच्चे हों,
मेरे प्रभु
मेरे देश के पुत्रों और पुत्रियों के
मन और प्राण एक हों।"

हमें अपने देश के इन मनीषी-विचारकों के शब्द-मंत्र से लाभ उठाना चाहिए, ताकि प्रगति का अखंड चक्र हमारे भविष्य के

मार्ग को प्रशस्त करता रहे। हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारी एकता की भावना सामयिक न होकर स्थायी होनी चाहिए। किसी के मकान में आग लगने पर गाँव भर एक कुआँ खोदने में लग जाएँ, इसे हम एकता नहीं, बल्कि मूर्खता कहेंगे। एकता तो तब कहते, जब गाँव वाले मिल-जुलकर श्रम के सहयोग से पहले ही कई कुएँ तैयार रखते। सामयिक एकता के कारण हम सामयिक सुरक्षा ही पाते हैं, वैसे तो जीवन अरक्षित ही रहता है। आज के युग और आज की स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य विनोबा ने इस संबंध में बड़ा ही विचारणीय वक्तव्य दिया है। वे कहते हैं :

"अब अगर कोई सोचे कि इस संकट के समय तो चीन के आक्रमण के कारण हम एक हो जाएँगे और फिर पुराना जीवन ही अपना लेंगे, तो उससे फिर खतरा आएगा और बार-बार संघर्ष में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि यह विज्ञान का जमाना है। इस जमाने में जनसंख्या बढ़ती है और जमीन कम पड़ती है, तो उद्योगों से आमदनी बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। यह आवश्यकता विज्ञान के बिना पूरी नहीं होती। इसलिए मालकियत और ऊँच-नीच का भेद मिटाना विज्ञान की माँग है। चीन का आक्रमण भले ही टले, विज्ञान का आक्रमण नहीं टलेगा। इसीलिए हमारा एकता लाने का, मालकियत मिटाने का, बेकारों को काम देने का, गाँव के झगड़े गाँव में निबटाने का, शांति दल बनाने का, जो कार्यक्रम है, वह हमेशा के लिए जरूरी है और

अब चीन के आक्रमण के कारण तो यह सब फौरन जरूरी हो गया है।"

विनोबाजी ने आगे कहा है :

हमें सोचना चाहिए कि विविध भाषा-भूषा-जाति-धर्म आदि के सौंदर्य से अभिभूषित इस भारत-भूमि को किस शक्ति ने एकता के धागे में बाँध रखा है ? अंदरूनी प्रेम और सहयोग ने। यही अहिंसा है। इस अहिंसा और प्रेम-शक्ति के आधार पर हमें एक बनना पड़ेगा। भारत में शूरता की कमी नहीं है। लेकिन, जब यहाँ के लोग आपस में लड़ कर शत्रु से मिल जाते हैं, तब भारत को पराधीन बनाते हैं। जयचंद और मीरजाफर की कहानी मशहूर है। इसलिए इस संकट के समय जाति, धर्म, भाषा संबंधी अंदरूनी अशांति और लोभ को मिटा दीजिए। इस देश की सामाजिक-आर्थिक विषमता को देखकर चीन भारत में फूट डालने की कोशिश कर रहा है। उनसे बचने के लिए हम लोग एक और नेक बनें।"

मैं समझता हूँ कि विनोबाजी के इस कथा से मुकरने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। यों अपनी गलती को छिपाने के लिए हम गलत जवाब तैयार कर लें, वह दूसरी बात है। लेकिन हमें यह मानना होगा कि बयान देने का तर्ज चाहे जितना अच्छा हो, गलत बात अंततः गलत ही है।

एकता की भावना को ही वाणी देते हुए कभी स्वामी राम-तीर्थ ने कहा था—

"मैं सदेह भारत हूँ। सारा भारत मेरा शरीर है। रास कुमारी मेरी पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरे बालों से गंगा बह रही है। विंध्याचल मेरा कमर बंद है। मैं संपूर्ण भारत हूँ। पूर्व और पश्चिम मेरी दो भुजाएँ हैं, जिनको फैला कर मैं अपने देश वासियों को गले लगाता हूँ। हिंदुस्तान मेरे शरीर का ढाँचा है और मेरी आत्मा सारे भारत की आत्मा है। चलता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि तमाम हिंदुस्तान चल रहा है, जब मैं बोलता हूँ, तो तमाम हिंदुस्तान बोलता है।"

इस विचार को व्यवहार में परिणत कीजिए—

यह है एकता की मर्यादा !

यह है एकता की परिभाषा और अभिव्यक्ति !!

● ● ●

९. सदा शिखर पर

"लोगों को मैं कहते सुनता हूँ, पश्चिम बर्लिन सैनिक दृष्टि से अरक्षणीय है—इसी प्रकार अरक्षणीय थे बुस्टोन और स्तालिनग्राड भी। कोई भी खतरनाक स्थान रक्षणीय हो जाता है, बशर्ते आदमी—बहादुर आदमी—उसे रक्षणीय बना दें।

—राष्ट्रपति केनेडी

उस व्यक्ति ने अपनी बुद्धि और प्रतिभा का उपयोग किया। फिर देखते-देखते संसार का सबसे प्रौढ़, तटस्थ और विचारोत्तेजक समाचार-समीक्षक बन गया। आज उसका कॉलम 'टूडे ऐंड टुमारो' छहों महाद्वीपों के लगभग ढाई सौ अखबारों में छपता है। कहा जाता कि 'टूडे ऐंड टुमारो' बुद्धि जीवियों का भोजन है।

यह व्यक्ति है—वाल्टर लिकमन।

और इसने कहा है—"जिस समाज के पास असत्य को पकड़ने की कुंजी—जानकारी—नहीं है, वह समाज स्वतंत्र नहीं रह सकता।"

बात बिलकुल सही है। मगर वह असत्य है क्या !

वह असत्य है—गलत इरादे, गलत अभिमान, अनुचित सुख की अपेक्षा, गलत शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता।

आचार्य विनोबा भावे ने एक बार कहा था—"आज लोग चंद्रलोक में जाना चाहते हैं। जाना कोई असंभव बात नहीं है। मगर, यह संभव भी तभी होगा, जब लोग धरती के मोह से मुक्त हो जाएँगे।"

विनोबाजी के इस कथन का शाब्दिक अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि महान बनने के लिए इंसान को मन के शैतान से निरंतर युद्ध करना होता है, उस शैतानी प्रवृत्ति का मोह छोड़ना होता है। अर्थात् हमें व्यक्तिगत स्वार्थों, व्यक्तिगत-सुखों, गर्हित विचारों को छोड़ कर महाशयता के सागर में गोते लगाना चाहिए।

ये बातें मानवीय विकास की अधारशिला हैं, जड़ हैं।

अपनी जापान-यात्रा की चर्चा करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने एक जगह कहा है—"जापान में तीन-तीन सौ, चार-चार सौ साल के चीड़ और देवदार के दरख़्त देखे, जो एक-एक बालिश्त ही के बराबर या कुछ ज्यादा ऊँचे थे। आप खयाल करें कि देवदार के दरख्त कितने बड़े होते हैं ! मगर कौन इन दरख्तों को सदियों-तक बढ़ने से रोक देता है ? जब हमने दर्याफ्त किया, तो लोगों ने कहा कि हम इन दरख्तों के पत्तों और टहनियों को बिलकुल नहीं छेड़ते, बल्कि जड़ें काटते रहते हैं, नीचे बढ़नें नहीं देते।

और, कायदा है कि जब जड़ नीचे नहीं जाएगी, तो दरख्त ऊपर नहीं बढ़ेगा। ऊपर और नीचे (अंदर और बाहर) दोनों में इस किस्म का संबंध है कि जो लोग ऊपर बढ़ना चाहते हैं, दुनिया में फलना-फूलना चाहते हैं उन्हें नीचे अपने अंदर आत्मा में जड़ें बढ़ानी चाहिए। अंदर अगर जड़ें नहीं बढ़ेंगी, तो दरख्त ऊपर कभी नहीं फलेगा।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि हमें अपनी जड़ें बढ़ा कर फूलने-फलने के लिए असत्यों से बचना होगा, उन असत्यों से जिनके बारे में मैं ऊपर कह चुका हूँ।

बात पहले ग़लत इरादे की लेता हूँ।

ग़लत इरादे हमें ग़लत रास्ते पर ले जाते हैं। मगर, यह भी सत्य है कि जब भी हम कोई ग़लत इरादा बनाते हैं, हमारा सूक्ष्म मन हमें उसे कार्यान्वित करने से रोकता है। पर, हम हैं कि उस सूक्ष्म मन से अड़ जाते हैं। और, तब वह सूक्ष्म मन हमें दंड देता है—सामाजिक बहिष्कार के रूप में, सजा के रूप में, पश्चात्ताप के रूप में, मानसिक क्षति के रूप में।

बापू के हत्यारे नाथूराम गोडसे ने ग़लत इरादा किया, उसने बापू पर गोली चलायी—मुसलमानों का पक्ष लेने का आरोप लगा कर। मगर, उसके इस अमानवीय कार्य पर मुसलमानों ने भी थूका, अंग्रेजों ने थूका, अमरिकियों ने थूका, अफ्रीकियों ने थूका, धर्म ने थूका, इंसानियत ने थूका।

कुछ लोग राम गलत करने के नाम पर ग़लत इरादे बनाते

हैं, शराब पीने लगते हैं और शराबी बन जाते हैं। फल यह होता है, समाज उन्हें घृणा की दृष्टि से देखने लगता है, पैसे बरबाद होते हैं, अनेक व्याधियाँ सताती हैं और ग़म भी ग़लत नहीं होता। जब कि सचाई यह है कि ग़म ग़लत होता है—कर्म करने से, साहस करने से, निरंतर संघर्ष करने से।

ज्ञान के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, समाज-सेवा के क्षेत्र में, बहुत से लोगों को, बहुत प्रकार की निराशाओं का सामना करना पड़ा, मगर उन्होंने ग़लत इरादे नहीं बनाये।

फ्रैंक मोरिस का आपने नाम सुना है ?

बहुत बड़ा पत्रकार ! उसका बाल्य-जीवन एक बूट पालिश करने वाले लड़के का जीवन था। वह ग़म गलत करना चाहता, तो दिन भर पालिश करता, पैसे मिलते, इधर-उधर कुछ खाता और फुट पाथ पर सो रहता। थोड़ा और बड़ा होने पर जुआड़ी होता, शराबी होता, चोर होता, उचक्का होता।

मगर, उसने जब ग़लत इरादे नहीं अपनाये, तो इतना बड़ा पत्रकार और आलोचक हुआ कि लोगों ने उसे कहा, "मोरिस अंग्रेजी साहित्य का डाकू है। उसने शेक्सपीयर और शॉ को कब्र से धो-पोंछ कर जनता के सामने रखा और प्रतिष्ठा दिलायी।"

इसका कारण यह था कि मौका मिलने पर उसने होटल में नौकरी की, भूखे रह कर कानून तक की शिक्षा प्राप्त की और अंग्रेजी साहित्य का ऐसा अध्ययन किया कि संसार में सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रिका 'सैटर्डे-रिव्यू' में बड़े-बड़े ग्रंथों की समीक्षा तक

करने लगा, जब उसकी अवस्था केवल इक्कीस साल की थी। वह बूट पालिश करने वाला बालक अपने अध्यवसाय से इतना महान बना कि जब वह लंदन और अमरीका में रह रहा था, तब बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, साहित्यकार और समाज सेवी उसके द्वारा भोज का निमंत्रण पाने पर अपने को महान समझते थे।

यह हुई सदा शिखर पर चढ़ने की बात !

शिखर पर यों चढ़ा जाता है, शुभ इरादे बना कर, विकास के इरादे बना कर।

और अब सुनिए, जॉर्ज इस्टमैन की बात !

यह व्यक्ति जब दस साल का था, तभी इसके पिता की मृत्यु हो गई। परिवार वैसे भी आर्थिक दृष्टि से बहुत ही विपन्न था।

इस लड़के ने एक होटल में नौकरी कर ली। वेतन तय हुआ, छह पौंड प्रति माह !

मगर, उसी स्थिति में यह अपनी माँ से आकर कहता—"माँ, आज मेरे पास दस हजार पौंड हो गए हैं।"

माँ सुन कर सोचती—मेरा बेटा ग़रीब ही नहीं, पागल भी है।

कुछ रोज बाद इस्टमैन को एक लेबोरेटरी में काम मिला—शीशी, बोतल और बीकर साफ करने का काम। और वहीं ! अट्ठारह साल की अवस्था में उसने फिल्म का आविष्कार कर लिया, जिस पर आज बेहतरीन फोटो लिये जाते हैं, जिस पर आज गेवाकलर और टेकनीकलर चल-चित्र तैयार किये जाते हैं।

इसने अपने आविष्कार का नाम रखा—कोडक।

कोडक फिल्म आज दुनिया में मशहूर है।

इस्टमैन का रेकार्ड है कि इसने अपने जीवन काल में किसी भी विश्वविद्यालय को अनुदान के रूप में लाख रुपए कभी नहीं दिये, हमेशा उसने करोड़ का ही चेक दिया। आज उसके नाम पर बसे कोडक नगर में मात्र ७५,००० कर्मचारी काम करते हैं। कारखाना दिन-रात चला करता है।

शिखर पर चढ़े हुए एक समाज-सेवी की बात लीजिए।

बिहार के सारन जिले का एक किशोर अमरीका पहुँच गया, ऊंच शिक्षा प्राप्त करने। पास में एक पैसा नहीं। मगर, इरादे मजबूत थे।

स्वीटज़र ने ठीक ही तो कहा है—माना कि इस्पात बड़ी मजबूत चीज है, मगर इंसान के मजबूत इरादे के सामने भला इस्पात की क्या बिसात !

वह किशोर अमरीका में खेत-खलिहान, फैक्टरी-कारखाने और होटलों में मेहनत-मजदूरी करके गणित, भौतिकी और रसायन शास्त्र में स्नातक होने ही वाला था कि उसका संपर्क एक समाजवादी अध्यापक से हुआ। विश्व की समस्याओं को समझने और सुलझाने का उसे एक नया मार्ग मिला—मार्क्सवाद !

वह विज्ञान की पढ़ाई छोड़ कर समाज-शास्त्र और राजनीति पढ़ने लगा। तीन-चार साल फिर मेहनत करनी होगी, इसकी चिंता उसे नहीं हुई। मेधा के बल पर नए विषयों में पांडित्य

पाकर सम्मान पूर्वक एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

सत्य के प्रति मद ललक, नए आलोक को अपनाने की यह अनवरत तत्परता उसके व्यक्तित्व की सब से बड़ी शक्ति है और व्यावहारिक राजनीति में उसकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है। कोरे राष्ट्रवादी से वह व्यक्ति मार्क्सवादी बना, गाँधीवाद के प्रभाव में आकर उसका समाजवाद वर्गवाद के बिष से मुक्त होकर सुभग बन गया, विनोबाजी के प्रभाव से उसकी निष्ठा राजनीति से हट कर 'लोकनीति' में हो गई जो कि बहुमत के बजाय सर्व सम्मति पर आधारित दल रहित सर्वोदयी प्रजातंत्र का दूसरा नाम है।

और यह व्यक्ति है—जयप्रकाश नारायण !

सम्मान की उपलब्धि के लिए ग़लत अभिमान का प्रदर्शन मत कीजिए। पैठ कर सोचिए और धैर्य धारण कीजिए। जब आप सम्मान पाने योग्य काम वास्तव में कर बैठेंगे, सम्मान आपके चरणों पर स्वयं लोटेगा।

जब प्रसिद्ध रत्न व्यापारी बार्ने बार्नेटो दक्षिण अफ्रीका गया, उसने हीरे की वे खाने खरीदीं, जो पुरानी और बेकार कह कर छोड़ दी गई थीं। लोग ऊपर-ऊपर से कुछ खुदाई करके उतावली में उन्हें छोड़ कर चले गए थे। बार्नेटो ने बड़ी धीरज के साथ उन्हीं खानों को फिर खोदना शुरू किया और उसे इतने सारे अनमोल हीरे मिले कि वह संसार में हीरों का सबसे बड़ा व्यापारी बन गया।

सद्गुण-सरिता के दो कगार हैं।

सब्र और संयम ! संयम भी वस्तुतः सब्र का ही निषेधात्मक रूप है। इस संबंध में प्रसिद्ध विचारक जे० एल० वुडहाउस का कथन है :

"लोक व्यवहार में हमारा नारा होना चाहिए 'गहरे पैठो'। बेसब्री का यही व्यावहारिक उपचार है। मानव-स्वभाव बड़ी विचित्र चीज़ है। कौन वास्तव में क्या है और कब क्या करेगा, यह कहना बड़ा कठिन है।

अधिकांश लोगों का जीवन एक संग्राम है। सब अपनी-अपनी परेशानियों से जूझ रहे हैं। इसलिए दूसरों के प्रति उदार दृष्टिकोण से काम लो।

और, सबसे अधिक सब्र दिखाना चाहिए, जीवन के प्रति। जीवन में जो भी सुखमय हैं, स्पृहणीय हैं, वे सब लंबी साधना से सिद्ध होते हैं। जीवन का आनंद-फल डाल पर ही पकता है, पाल में रख कर जल्दी नहीं पकाया जा सकता।"

प्रकृति भी उसी को अपना रूप दिखाती है, जो धैर्यवान है। चार्ल्स डारविन ने पूरे उन्तीस वर्ष तक केचुओं का अध्ययन किया, तब कहीं विकासवाद के सिद्धांत का सूत्र उनके हाथ लग पाया। प्रसिद्ध चित्रकार रिचार्ड जेफटीस द्वारा अंकित एक सुंदर प्राकृतिक दृश्य को देखकर एक मित्र ने पूछा, "जंगलों में इतना सौंदर्य तुम्हें क्यों दीख जाता है ?"

कलाकार ने उत्तर दिया, "एक वृक्ष या चिड़िया का निरीक्षण

करने के लिए मैं दो-दो तीन-तीन घंटे कमर तक गहरे कीचड़ में खड़ा रहता हूँ।"

विकास के शिखर पर चढ़ने के मार्ग में ग़लत शक्ति की प्रतिद्वन्द्विता बहुत बड़ी रुकावट है। संपन्नता आप में चाहे जिस प्रकार की हो। उसका ग़लत उपयोग मत कीजिए।

देखता हूँ कि बात-बात में लोग मुकदमे बाजी के चक्कर में पड़ जाते हैं। वे अपने कमजोर पड़ोसी के बारे में कहते हैं—"वह क्या मुझसे लड़ेगा, मेरे पास पैसे हैं, मैं उसे तबाह करके छोड़ूँगा।"

मगर, इस प्रकार तो पैसे और शक्ति का दुरुपयोग ही होता है, इस प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता में हम लेखक ने अनेक लोगों को भिखारी बनते देखा है, आसमान के तारे से जमीन का जर्रा बनते देखा है।

समाज को दिखलाने के लिए मैंने कई ऐसे लोगों का आर्थिक अध्ययन किया है, जो फिजूल खर्ची में अपना सानी नहीं रखते। सौ रुपए वेतन पाते है, मगर सौ रुपए का सूट पहनते हैं। उधार लेते तनिक भी नहीं शरमाते और पहली तारीख को सूदखोर उनके दरवाजे पर हाजिर रहता है। हमारे-आपके सामने तो ऐसे लोग अकड़ कर बातें करते हैं मगर जिससे अपनी शान बनाये रखने के लिए रुपए उधार लेते हैं, उसके सामने भींगी बिल्ली बन जाते हैं।

इसलिए हे मित्रो ! दिखावे से बचो, सहनशीलता से लिपटो !

फिजूल खर्ची से बचो, राष्ट्र की रीढ़ मजबूत करो !!

और, इस तरह की सहनशीलता—धीरता, निराशा या निष्ठुरता का चिन्ह नहीं है, वरन् वह तो दृढ़ आत्म-विश्वास से, सफलता में दृढ़ विश्वास से पैदा होती है। धैर्यवान व्यक्ति जीवन-संघर्ष में यह मान कर चलता है, आपत्तियों एवं विपदाओं के मेघ-गर्जन के बाद नीलाकाश में इंद्रधनुष भी अवश्य लहराता है।

●●●

१०. साहस का सितार : कलम की उँगलियाँ

"शायर जो आज नगमा तराजे वतन न हो,
उस बेहया को बज्में सुखन से निकाल दो।"

—खान 'गाज़ी' काबुली

प्रेमचंदजी एक साहित्यिक सभा में दिल्ली गए, सभा में शामिल हुए और जब सभा की कार्यवाही समाप्त हुई, तब एक पंजाबी सज्जन पास पहुँच गए और बोले, "आज मैं आपको वापस नहीं जाने दूँगा। आपको मेरे घर चलना होगा।"

"ऐसा क्यों भाई ?"

"आपकी एक कहानी मैंने पढ़ी थी। मैं जीवन से बड़ा निराश था। स्टेशन पर टहल रहा था। एक रिसाला खरीदा और उसमें आपकी कहानी मिली। उस कहानी ने मेरे जीवन को उत्साह दिया, संतोष दिलाया।"

कलम की उँगलियाँ साहित्यकार के पास होती हैं और साहित्यकार का धर्म यहीं चरितार्थ होता है कि उसकी रचना देशवासियों को, संपूर्ण मानव जाति को उत्साह और जीवन में आस्था का संदेश दे।

मैंने गोर्की की आत्मकथा पढ़ कर पूरा किया, तो लगा कि उसने विशाल जीवन दर्शन को आत्मसात कर लिया था और तभी उसके साहित्य ने रूस की जनता में जागरण का शंख फूँका।

मैं ऐसा नहीं कहता कि मेरे देश में ऐसे साहित्यकार नहीं रहे, रहे, मगर बहुत थोड़े। खोजिए न, हमारे देश में कितने शरण गुप्त और काजी नजरुल इस्लाम हैं ?

यहाँ तो मनोविज्ञान और भाषा-लालित्य के नाम पर दूषित वासना का खुल कर प्रचार किया जा रहा है। पाठक क्या पाएगा ऐसे साहित्य से, पाठक कैसे जीवन-संदेश पाएगा ऐसे साहित्य निर्माताओं से ?

महान साहित्यकार टाल्स्टाय ने कहा था—समस्त श्रेष्ठ साहित्य उपदेशात्मक होता है। अमरीकी साहित्यकार स्व० विलियम फॉकनर ने यही बात दूसरे रूप में कही है। उन्होंने मानव-हृदय को समुन्नत बना कर उसे मौत को ललकारने की शक्ति देना साहित्य का ध्येय माना है। उन्होंने उन साहित्यकारों के नाम भी यही संदेश दिया, 'ऐसा साहित्य दो, जिससे मानव-हृदय ऊँचा हो' जो कलम के कलाकार बनने को कोशिश में हैं, जो कोरे दिल बहलाव के लिए लिखते हैं, जो चौंकाने के लिए लिखते हैं, जो अपने-आपसे और अपने दर्दों से भागने के लिए लिखते हैं।

वे कहते हैं—"हममें से बहुत से लेखक नहीं जानते हैं कि वे इसीलिए लिख रहे हैं। कुछ हैं कि जान लेने पर भी इन्कार

कर देंगे, जिससे कोई उन्हें 'भावुक' न कह दे। 'भावुकता' के इल्जाम से आज न जानें क्यों सभी कतराते हैं। हृदय कहाँ पर है, इस बारे में हममें से कुछ ने बड़े अजीब-अजीब खयाल बना लिये हैं। वे कुछ निम्नतर गिल्टियों और शरीर-क्रियाओं को ही हृदय मानने की भूल कर बैठे हैं।"

वे आगे कहते हैं—"अगर लेखक मानव-हृदय को ऊँचा उठाना चाहता है, तो वह अपने ही लाभ के लिए; क्योंकि इस तरह वह मौत को जवाब दे सकता है। वह मौत को जवाब दे सकता है, उन हृदयों द्वारा, जिन्हें उसने ऊँचा उठाना चाहा है। अथवा मौत को वह जवाब दे सकता है, उन निम्नतर गिल्टयों द्वारा, जिन्हें उसने इतना उत्तेजित कर दिया है कि वे मरने से इन्कार कर देते हैं।

जो इन्सान छापे के बेजान, भावहीन अक्षरों द्वारा ऐसी उत्तेजना पैदा कर सकता है, वह उस उत्तेजना द्वारा पैदा की गई अमरता में भी अवश्य हिस्सा बटाता है। हाँ, एक दिन आएगा कि वह नहीं रहेगा। पर, इससे क्या ? उसकी कृति तो छापे के बेजान अक्षरों में सुरक्षित है। जिंदा है और अब भी हृदयों एवं गिल्टियों को उत्तेजित कर सकती है। और, लेखक इस बात को जानता है कि उसकी कृति में अगर कभी यह शक्ति थी, तो उसके नाम शेष हो जाने के बहुत समय बाद भी वह शक्ति उसकी कृति में बनी रहेगी।"

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक ओर 'गीतांजलि' में शुद्ध आध्यात्मिक गीतों की भेंट दी, दूसरी ओर उन्होंने समाज और सरकार की आलोचना भी की, शुभ संदेश दिये, मगर उनके ऐसे सारे वाक्य सारगर्भित थे। जो साहित्यकार संघर्ष को अनदेखा करके, उसके अस्तित्त्व का अपलाप करके, संघर्ष से विमुक्त हो जाता है, वह साहित्यकार यदि रहस्यवादी है, तो रवि बाबू रहस्यवादी साहित्यकार नहीं थे। युग के अभिशाप-रूप अन्याय और दारिद्र्य से वे सुपरिचित थे। एक बार उन्होंने लिखा था—"यूरोप की सरहद के पार यूरोपीय सभ्यता की मशाल आलोक नहीं फैलाती, बल्कि आग लगाती है।"

फिर भी उन्होंने कभी यूरोप को आत्महीन, भौतिक परायण और बर्बर कह कर निंदित नहीं किया। वे अपने देशवासियों को यूरोप के उत्तम विचारों और आदर्शों को अपनाने तथा यूरोप के आक्रमण के प्रतिरोध को यूरोप के गुणों के प्रतिरोध का रूप न देने की प्रेरणा देते रहे। और, स्वतंत्रता-संग्राम के इस युग में यह प्रेरणा देना आसान बात नहीं थी।

परंतु, यह सलाह उन्होंने निर्बलतावश नहीं दी थी। बड़े स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा था—"अपने प्राण और मान को बनाये रखने के कितने कम साधन हमें उपलब्ध हैं, यह किसी से नहीं छिपा। अन्न, अक्षरज्ञान और चिकित्सा की जबरदस्त कमी है; पीने का पानी भी हमें कीचड़ में से निथार कर निकालना पड़ता है। पर, पुलिस वालों की कमी नहीं। मोटी-मोटी तन-

ख्वाहों वाले अफसर भी कम नहीं हैं। अपनी अंत्येष्टि के खर्चे में से हमें उनकी पेंशन चुकानी पड़ती है। इन सबका कारण यह है कि लोभ अंधा और निष्करुण होता है और भारत अपने मालिकों के लोभ का शिकार है।

भारत में आज कुछ ऐसे प्रगतिशील कवि और लेखक हैं, जो जनता का पक्ष करने के नाम पर, जनता के लिए सरकार से लड़ने के नाम पर व्यक्तिगत रूप में, अपनी रचनाओं द्वारा मंत्रियों पर कीचड़ उछाला करते हैं। वस्तुतः ऐसा साहित्य न तो जनता का मनोबल बढ़ाता है और न सरकार में बने रहने वाले लोगों को कोई रचनात्मक संकेत मिलता है।

भारत के कुछ साहित्यकार कहते हैं कि वे संघर्ष कर रहे हैं, इसलिए उन्हें इस बात का हक है कि सरकार की आलोचना करें, सरकार को अपशब्द कहें। मगर, यह दलील केवल अकर्मण्यता पर परदा डालने के लिए गढ़ी गई है।

जो वास्तव में साहित्यकार है, वह हर स्थिति में साहित्य का सृजन करता है।

वह प्रतिदान की बाट नहीं जोहता, वह सरकार से मनीआर्डर नहीं खोजता। और, जो वस्तुतः प्रतिभाशाली होता है, अपने विकास का मार्ग बना लेता है।

भर्तृहरि ने कहा है—राजहंस से क्रुद्ध होकर ब्रह्मा क्या कर लेगा ? यही न कि उसे कमल-वन निवास के सुख से वंचित कर देगा। उसमें जो नीर-क्षीर को पृथक् करने की विलक्षण शक्ति है,

वह तो ब्रह्मा नहीं छीन सकता। तो हे कवि, तुम राज-कोप की क्यों चिंता करते हो ?

दीपक की बाती जलती है, तभी दुनिया को रोशनी देती है।

यदि साहित्यकार साहस के सितार पर कलम की उँगलियाँ नहीं फेरेगा, तो फिर क्या करेगा ? जनता का मनोबल ऊँचा करना तो उसका परम कर्त्तव्य है। हमने माना कि निश्चित अवधि में आपको अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता, अपेक्षित आर्थिक सुख नहीं प्राप्त होता, मगर आप इसकी परवा मत कीजिए। यह सच है कि सत्साहित्य के सृजन से आपको जो आत्मिक सुख का लाभ होता है, उसे विरले ही लोग इस भूतल पर प्राप्त कर पाते हैं। क्या हर्ज है, अगर आप उपरोक्त सुखों की लालसा लिये मृत्यु को प्राप्त होते हैं, समय अवश्य बतलाएगा कि आपने समाज का नैतिक बल बढ़ाने की चेष्टा की थी, समाज की मनःस्थिति को दूषित नहीं किया था।

एक अरबी संत की वाणी है—"नैतिक बल को स्वयं जानना सचमुच एक महान बात है; परंतु संसार में दूसरों को उसकी अनुभूति कराना महानतम है।" और, यह कार्य केवल साहित्यकार ही कर पाता है।

● ● ●

११. एक शहीद की अस्त-व्यस्त डायरी

"देश की सेवा करना बड़ा कठिन है, जबकि बातें बनाना बड़ा आसान है। जो देश-सेवा के बीच पैर डालते हैं, उन्हें लाख मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं।"

—अमर शहीद भगत सिंह

आज बड़ा कष्ट हुआ हँसने में। स्वाभाविक हँसी जो नहीं थी—हँसना पड़ा था। अमीर पिता का पुत्र होता और जीवित रहता, तो इस हँसी से मेरे गालों को जो तकलीफ हुई है, विदेश की आध दर्जन डिग्रियाँ पाये कोई डाक्टर आकर लेप करता, पट्टियाँ बाँधता। सारा परिवार दुःखी रहता।

एक व्यक्ति आया था मेरी समाधि पर सरदार भगतसिंह की तसवीर लेकर। शायद समाज से छिपकर आया था बेचारा, इसीलिए आधी रात में आया। मुझसे आशीर्वाद माँग रहा था कि उसे सरकार से आर्थिक सहायता मिल जाए, उसने अपने को राजनीतिक उत्पीड़ित साबित करने का तिकड़म लगाया है। धोखे से कुछ लोगों की भीड़ में पकड़ा कर चार रोज के लिए जेल गया

था। खुले दिल से बोला बेचारा, उसने विदेशी हुकूमत के विरुद्ध कोई नारा नहीं लगाया। नारा लगाने वालों से थोड़ा अलग खड़ा होकर मूँगफली खाता हुआ तमाशा देख रहा था। कहता है—भगत सिंह का अनन्य भक्त हूँ, बराबर उनका चित्र साथ में रखता हूँ। हे शहीद! जिला मजिस्ट्रेट को सुबुद्धि दो कि वह राजनीतिक उत्पीड़ितों की सूची में मेरा नाम अवश्य डाल दे। दो बीबियाँ हैं, बड़ी परेशानी है। कुछ रुपए मिल जाएँ, तो छोटी वाली को कुछ जेवर बनवा दूँगा, तब शायद वह कुत्ते की तरह भूँकना बंद कर देगी।

बोलता था—"अधिकारी मंत्री के यहाँ पिछले दरवाजे से सिफारिश पहुँचा चुका हूँ। हे अमर शहीद! अपने तेजोबल से फाइल आगे खिसकवा दो। वरना यह सरकारी काम है। इस कमरे से उस कमरे में फाइल जाते-जाते तेरह रोज लगते हैं।"

इस भयानक देश-प्रेमी के चले जाने के बाद एक बूढ़ा व्यक्ति आया। दीन-हीन दीख पड़ा। उसने आकर मेरी समाधि को सलाम किया और सिर्फ इतना ही कहा—"आपने देश के लिए जान दी, अब देशवासियों को ईमान दीजिए। ईमान के अभाव में लोगों ने देश को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है।"

मैं उस बूढ़े को पहचानता हूँ। स्वातंत्र्य-संग्राम में वह कई बार जेल गया था। पुलिस की बेंत उसकी पीठ पर वर्षा की बूँदों

की तरह गिरी थी। देश के आज़ाद हो जाने के बाद वह जो मौन हुआ, सो आज तक मौन है।

\+ \+ \+

अभी-अभी वह समाजसेवी विधायक वापस गया है। परसों मेरी समाधि के सामने वाले मैदान में एक सभा हुई थी प्राइमरी शिक्षा के बारे में। उसने उस सभा में बुनियादी शिक्षा पर बड़ा अच्छा भाषण किया था। लोगों को उसने बतलाया था कि बुनियादी शिक्षा से क्या-क्या लाभ हैं। बीच-बीच में बापू के आदर्शों का अमृत छींट रहा था। बच्चों के अभिभावक भींग-भींग जाते थे। आज मेरी समाधि पर आकर उसने एक सरकस दिखला दिया। उसका सिर नीचे था और पैर ऊपर। बड़ा गिड़गिड़ा रहा था। कहता था—"मेरे छोटे बच्चे का नाम यूरोपियन स्कूल में लिखा जाए, यही वरदान दें। आपकी विचारधारा को माननेवाले लोगों के सामने मैं एक सौ छप्पन बार सरदार भगतसिंह की प्रशंसा कर चुका हूँ। उस यूरोपियन स्कूल के प्रिंसिपल का दिमाग फेर दीजिए। मेरा बच्चा अभी फटर-मटर अंग्रेजी की वर्णमाला जानता है। कमबख्त प्रिंसिपल कहता है कि अभी नाम नहीं लिखा सकता। अंग्रेजी के सौ शब्द मालूम होने चाहिए और यह 'ब्वाय' बुद्धि से भी कुंद है। हे अमर शहीद! बतलाओ, भला एक विधायक का लड़का भी कुंद बुद्धि का हो सकता है? घर का बहुत-सा आटा गीला करके, नेताओं का पिछलग्गू बनकर विधान सभा की सदस्यता पायी है। हर पाँचवें साल इस पद पर खतरा

आ जाया करता है। एक बार तो ऐसा खतरा आया कि विरोधी उम्मीदवार से दस हजार लेकर बैठ जाना पड़ा। खैर, हे शहीद! मुझे तो जो होना था, सो हो गया अब मेरे छोटे बेटे को भारतीय अंग्रेज बनने में सहायता करो। सुना है, यूरोपियन स्कूलों में केवल हाकिम ही पैदा होते हैं। मैं उसे हाकिम ही बनाना चाहता हूँ। बुनियादी शिक्षा पाने की बुद्धि उसे मत दो। बुनियादी शिक्षा की बातें तो साधारण और गरीब लोगों के लिए लाभदायक हैं।"

\+　　　　+　　　　+

और, आज दोपहर में छात्रों का एक दल आया था—एक शहीद छात्र का शव लेकर। उन लोगों ने मेरी समाधि के सामने प्रार्थना की और अपनी त्यागवाली परंपरा को दुहराया, "स्वाधीनता-संग्राम में छात्रों का बलिदान अमर रहा और आज हमीं छात्रों पर लाठियाँ चलायो जाती हैं, गोलियाँ बरसायी जाती हैं। भला कौन-सा अपराध किया था, हमलोगों के मित्र ने। सिर्फ मेले में एक नवयुवती का दुपट्टा खींच लिया था। नवयुवती ने शोर किया, पुलिस आई। हमलोगों ने पुलिस को घेर लिया। ढेले चलाये। संघर्ष जारी हो गया। स्मरण रहे हे शहीद! सन् १९४२ ई० में छात्रों का ही दल विदेशी हुकूमत के विरुद्ध उखड़ा था, पुलिस के विरुद्ध उखड़ा था। आज भी हम छात्र उसी परंपरा के होने के नाते पुलिस के सामने झुकने को तैयार नहीं हुए। हमलोगों ने एस० पी० का दफ्तर घेर लिया। ढेले चलाने लगे।

और, फिर देखते-देखते हमलोगों पर गोलियाँ चलीं। हमारा मित्र शहीद हो गया!

हे अमर शहीद! तुम क्रांतिकारी थे, थाने पर कांग्रेसी झंडा लहराने का प्रयास करते हुए तुम गोली के शिकार हुए थे। हम भी क्रांतिकारी हैं। देख लो अपनी आँखों से हमारा संगठन, हमारी क्रांति-उपासना! हम अड़ जाते हैं, तो बस अड़ जाते हैं। हम क्रांति की परंपरा को कभी मिटने नहीं देंगे।

हम विश्वविद्यालय के अहाते में एक ऐसा स्मारक बनवाना चाहते हैं, जिससे छात्रों की भावी पीढ़ी को हमारे इस शहीद मित्र की याद आती रहे। तुमसे यही प्रार्थना है कि विश्वविद्यालय के उपकुलपति को सुबुद्धि दो कि वह हमें एक स्मारक बनवाने के लिए सिनेट हॉल के अहाते में जगह दे दें।"

क्रांति के अर्थों में यह नया संशोधन देखकर मेरा सर चक्कर खाने लगा। वे मेरी समाधि के सामने तथाकथित शहीद छात्र को लेटाये रहे, मगर मेरा दम घुटा जा रहा था। मैं तो भाग कर रेलवे लाइन के उस पार चला गया।

× × ×

रात आया था, एक काले फूलों का सौदागर। उसने मेरी समाधि पर कुछ काले फूल चढ़ा दिये और कहने लगा, "हे शहीद! तुम तो समाजवाद के समर्थक हो। सुना है, तुम साम्राज्य-वाद और उपनिवेशवाद के कट्टर दुश्मन रहे। मैं मात्र एक ग़रीब ब्लैक-मारकेटियर हूँ। द्वितीय विश्वयुद्ध में मैं कलकत्ते में था।

बहुत थोड़ा कमा पाया। गल्ले का रोजगार करता था। युद्ध के दिनों में मैंने अन्न छिपा दिया। सुना, बाजार से चावल गायब हो गया, गेहूँ गायब हो गया। कितने लोगों ने तो भागते हुए परदेशियों के बटुये छीन लिये। मैंने यह कुकर्म नहीं किया। लोगों की जानें बचाईं। सिर्फ बारह आने बोतल चावल का माँड़ बेचा। बड़ी मशक्कत से लाख-दो-लाख बन पाया। दिल में कोई खामी नहीं थी। रेड-क्रॉस में तीन हजार चंदा भी दे डाला। आजकल लोग पैसे को दाँत से पकड़ते हैं, मैंने तीन हजार को तीन पैसा समझा।

हे शहीद ! अब देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा की जा चुकी है। चीन-भारत युद्ध का वातावरण है। मैंने फिर अनाज छिपा दिया है, किरासन तेल छिपा दिया है। सरकार के अधिकारियों को सुबुद्धि दो कि वे गल्ला और तेल पर कंट्रोल करके सरकारी दूकानें न खोलवायें। मैं एक गरीब दीन-हीन बनिया ठहरा। बड़े जमाने पर कमाने का मौका आया है—काले फूल के सौदागर को फिर उठकर खड़ा होने दो। देशसेवक हूँ, राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में अभी परसों तीन रुपए का मनीआर्डर भेजा है।"

मैं आत्मा से अत्यंत स्वस्थ हूँ। मगर न जाने क्यों, उस सौदागर की बातें सुनते-सुनते विक्षिप्त हो गया। आज सुबह भी बड़ी थकावट और ग्लानि महसूस हो रही है।

● ● ●

१२. सत्य के साम्राज्य में आओ

"यदि वास्तविक विश्राम चाहते हो, तो सत्य के साम्राज्य में आओ।"

—ईसा

उस रोज की गोष्ठी में उस व्यक्ति ने पुनः अपनी आदत का उदाहरण पेश किया। बोला, "औरों की तरह मैं झूठ नहीं बोलता। जो कहना होता है, साफ कह देता हूँ।"

और मैं उसकी इस आदत से भी परिचित था कि प्रायः वह झूठ ही बोला करता है। मगर, इस प्रकार अपनी सत्यवादिता का उदाहरण पेश करते हुए आप कुछ ही लोगों को नहीं देखेंगे। प्रायः लोग ऐसे ही हैं। जब कि वास्तविकता यह है कि हमारे वचनों में सत्य का अभाव है, हमारे आचरण में सत्य का अभाव है।

मैं एक कार्यवश पटने से वाराणसी जा रहा था। ट्रेन की प्रतीक्षा देर तक नहीं करनी पड़ी। ट्रेन आई और मैंने डब्बे में प्रवेश किया। अंदर बहुत-से लोग थे। भीतर मेरा परिचय एक १५-१६ साल के लड़के से हुआ। बातचीत के सिलसिले

हुआ कि वह जेवर रख कर बेचने वाले कार्ड-बोर्ड के डब्बे जौनपुर ले जा रहा है। यद्यपि उसने मुझे बतलाया कि वह स्वयं इन डिब्बों का कारबार करता है; पर, मेरा अनुमान यही है कि वह इस प्रकार के कारोबारी का नौकर था।

थोड़ी और देर बाद लड़का मुझसे और घुलमिल गया, तो एक स्टेशन पर उतर कर बोला, "मैं अभी आता हूँ। पैखाने में मेरी गठरी पड़ी है। अगर टिकट-चेकर आए और पूछे, तो आप उसे अपना सामान बतला दीजिएगा।"

मैंने पूछा, "ऐसा क्यों ?"

मगर मेरे इस 'क्यों' का उत्तर देने से पहले वह प्लेटफार्म पर चला गया। लौट कर आया, मेरी उत्सुकता बढ़ी। मैंने अपने 'क्यों' का उत्तर माँगा। अब तक ट्रेन खुल चुकी थी। उसने बतलाया, "मेरे पास टिकट नहीं है।"

मैंने पूछा, "पकड़े जाओगे तो ?"

उसने कहा, "नहीं, नहीं, मुगलसराय पहुँच कर वहाँ से जौनपुर तक का हाफ टिकट ले लूँगा।"

मैंने पूछा, "वह कैसे ?"

वह बोला, "आप देखिएगा न।"

फिर कुछ देर बाद हमारी ट्रेन मुगलसराय पहुँची। वह लड़का उतर कर न जाने कहाँ गया और लौट कर आया तो उसने मुझे दिखलाया—मुगलसराय से जौनपुर तक का हाफ टिकट। मैंने साश्चर्य पूछा, "यह कैसे आई ?"

उसने मुझे बतलाया, "गार्ड से कहा है, मुझे टिकट नहीं मिल सका। बस यहीं से चढ़ रहा हूँ। उसने मेरे लिए टिकट बनवा दिया। ऐसा मैं बराबर ही किया करता हूँ।"

उस पंद्रह-सोलह साल के लड़के की करामात देखकर मैं दंग रह गया।

हमारे देश में जितने प्रकार के झूठ बोले जाते हैं, उनमें से यह एक छोटा-सा उदाहरण है; बल्कि लोग कोशिश करते हैं कि झूठ पकड़ जाने पर भी जब तक बचाव के सारे द्वार बंद न हो जाएँ, तब तक झूठ की रक्षा की जाती रहे। सत्य ऐसा तत्त्व नहीं है, जिसे परिश्रमपूर्वक ढूँढ़ना पड़े, वह तो हमारे साथ है, हमारे इर्द-गिर्द है, मगर हम हैं कि उस पर परदा डाले रहते हैं। इस संबंध में प्रसिद्ध संत जैकब एक विचार-क्षण को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :

"...और तब वह एक बड़ा-सा आइना पकड़ कर मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने किंचित आक्रोश से पूछा—"क्या मतलब है तुम्हारा ? क्या मेरे प्रश्न का उत्तर यही है ? क्या तुमने सुना नहीं, मैं स्वर्ग की इस मंजिल से छूटे हुए मर्त्यलोक को देखना चाहता हूँ। बताते हो या नहीं ?"

देवदूत तिरछी नजरों से मुसकुराया, "मेरे मालिक, विश्वास तो कीजिए, आइने में जो परछाईं आप देखते हैं, आपकी दुनिया उससे भिन्न नहीं होती !"

मगर, हमलोग देवदूत के ऐसे संदेश को इस प्रकार अनसुनी

करते हैं कि आइने में चेहरा देखने को तैयार ही नहीं होते। सत्य से मुख मोड़ना हम अपना प्रकृति-सिद्ध अधिकार मानते हैं। पर, यह हमारी भयंकर भूल है। मानव-जीवन तो एक पौधे के सरीखे हैं। हमें इसे नैतिकता की खाद और सत्य के जल से जीवित रखना चाहिए। इसके विपरीत अगर हम किसी पौधे का मूल ही तोड़ दें, तो उसमें फूल कहाँ से लगेगा! अगर हम प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करें, तो हमें उसका दंड भुगतना पड़ेगा। आप चाहें, तो दहकते हुए अंगारे पर हाथ रख सकते हैं, पर हम हाथ जलने के लिए अंगारे को दोषी नहीं ठहरा सकते। अगर हम किसी ऊँची इमारत से कूदने की मूर्खता करें और हमारी खोपड़ी चूर-चूर हो जाए, तो इसके लिए गुरुत्वाकर्षण तो दोषी नहीं माना जा सकता। किसान बीजों को फेंक या नष्ट कर फसल की आशा नहीं कर सकता और न हम बुरे कामों को बो कर अच्छे जीवन की फसल काटने की आशा कर सकते हैं।

कभी-कभी गहरे पानी पैठकर जब समाज के बारे में सोचता हूँ, तो ऐसा अनुभव होता है कि हमारा समाज सत्य के ज्ञान को अपने ऊपर आरोपित एक बोझ के रूप में स्वीकार करता है। जब कि वास्तव में सत्य का ज्ञान बोझ नहीं, नैतिकता का प्रकाश-रथ है।

ऐसे अवसर पर माइखेल नाइमी का एक चिंतन-प्रवाह स्मरण आ रहा है।

वे कहते हैं :

"आज अचानक जब फिर साक्षात्कार हो गया, तो मैंने अपनी आतुर-विह्वल आत्मा से पूछा, आखिर तू चाहती क्या है ?"

वह बोली, "मैं सत्य का ज्ञान चाहती हूँ। असत्य का वह अंधकार जो मुझे भीतर-बाहर से घेरे हुए है, उससे मुक्त होना चाहती हूँ।"

मैंने विहँस कर कहा, "मगर क्यों री, इतना ओढ़ कर भी क्या तू मुक्त हो सकेगी ?"

तब वह भी मुसकुरायी। कहने लगी, "क्यों, सत्य बोझ है क्या ? नहीं, नहीं, वह तो त्राता है, मुक्त करता है—वैसे ही जैसे ऊषमा छिलके में बंद बीज को; जैसे आनंद कंठ में बंद गीत को और करुणा हृदय में बंदी कवि के उद्‌गार को।"

ओह, कितना सुखद, कितना यथार्थ है यह चिंतन-प्रवाह !

मगर, हम हैं कि इस यथार्थ से आँखें मिलना नहीं चाहते !!

भागते हैं, भागते हैं और भागते जाते हैं !!!

क्या कहा, आप कचहरी पहुँच गए, गवाहों की पेशी है और आपके गवाह अब तक नहीं आए और समय नहीं है ?

मगर, चिंता मत कीजिए। आपको गवाह मिल जाएँगे—पेशेवर गवाह !

जाइए वहाँ नीम के पेड़ के नीचे जो पान की दूकान है। बगल में देखिए, नीचे टाट बिछाकर जो काना मुंशी कुछ लिख

रहा है, वह है ऐसे पेशेवर गवाहों का थोक आपूर्तिकर्त्ता ! जितने गवाह चाहिए, दस रुपए प्रत्येक गवाह के हिसाब से लगेंगे। लीजिए गवाह !

क्यों, पहले आपने मुकदमा दायर किया था और अब तंग आ गए ?

अच्छा, इसलिए कि कचहरी में दीवारें भी पैसे माँगती हैं ?

बेच दीजिए अपना मुकदमा ! वह रहा श्यामलाल, खरीद लेगा।

किसी सरकारी दफ्तर में कोई दरखास्त देने का समय आठ बजे है।

आप दस बजे आए हैं ? कोई चिंता नहीं, एक रुपए के नोट के साथ दरखास्त बढ़ाइए, किरानी फौरन ले लेगा। अगर आपने दरखास्त के साथ नोट नहीं दिया, तो विपरीत दिशा की ओर देखकर कहा— टाइम अप !

यहाँ किसे दोष देंगे आप, जवाहरलाल नेहरू को ?

नहीं-नहीं, यहाँ बेचारा जवाहरलाल कहाँ, यहाँ तो हम और आप हैं।

झूठ का अवदान हमारे यहाँ विविध रूपों में वितरित है।

आप गुजराती हैं और उस मुहल्ले में रहते हैं, जहाँ बिहारियों की संख्या अधिक है। किसी बिहारी ने आवेश में आकर आप पर थप्पड़ चला दिये। आपने पुलिस को खबर की। पुलिस आई, मगर एक भी बिहारी आपकी ओर से पुलिस के सामने

गवाही नहीं देगा और इसको वे लोग कहेंगे—आपसी एकता।

मगर, हृदय का संपूर्ण विकार तो सत्य के पावन जल से ही धुलता है। इसीलिए ईसा ने कहा था—सत्य के साम्राज्य में आओ, वह तुम्हें विश्राम देगा।

और जहाँ सत्य नहीं, वहाँ वास्तविक विश्राम कहाँ ?

मैंने युग के अनुसार लोगों को असत्य का दामन पकड़ कर कौड़ीमल से करोड़ीमल होते देखा है, सम्मानित होते देखा है, मगर उनके हृदय के अंदर पैठकर यह भी देखा है कि उसमें शांति नाममात्र को नहीं है। ऐसे लोग भीतर से अपने को बिलकुल रिक्त, बिलकुल अरक्षित पाते हैं।

हम असत्य और चालबाजी का व्यापार इस आशा से करते हैं कि एक वक्त आएगा, जब हम अपने को आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्ण सुरक्षित पाएँगे और जीवन को शांति की खूँटी से टाँग देंगे, ताकि यह आराम करे। मगर यह होने को नहीं है, असत्य की कील बहुत कमजोर होती है, उस पर टँगा जीवन सदा काँपता और हिलता थरथराता रहता है। हवा का हल्का-सा झोंका उसे धराशायी कर डालता है।

असत्य की शरण में जाकर सदा आशंकित बने रहने की अपेक्षा सत्य से प्राप्त क्षणभर की निश्चिंतता अधिक कीमती है। कल्पना कीजिए कि आपने अपनी मित्र-मंडली में कोई ऐसी बात कही, जो बिलकुल सत्य है। मगर, किसी ने आप पर विश्वास

नहीं किया। आपने धैर्य धारण किया। और, कुछ रोज बाद वास्तविकता सामने आ गई। उस क्षण की जो आपकी मानसिक स्थिति होगी, सोचिए कितना सुखमय, कितना उत्फुल्ल, कितना प्रकाशमय, कितना आस्थामय जीवन-क्षण होगा वह !

● ● ●

१३. अजेय किसे मानें ?

"युद्धोन्मूलन का अब एक ही उपाय है। वह है, एक सर्वसम्मत केंद्रीय नियंत्रण की स्थापना, जो समस्त विवादों का अंतिम निर्णायक हो।"

—सिग्मंड फ्रायड

परसों की बात है। एक मित्र के घर बैठा था। बातों-बातों में मैंने कहा, "लगता है, जून में भयानक गर्मी पड़ेगी। लिखना-पढ़ना नहीं हो सकेगा। सोचता हूँ, इस बार इलाहाबाद और दिल्ली से घूम आऊँ।"

मेरे मित्र का सुंदर पुत्र; जिसकी अवस्था छह साल से अधिक नहीं होगी, बोला, "अंकल, आप दिल्ली चले जाएँगे, वहाँ बम गिरेगा, तो कहाँ छिपेंगे आप ? क्या वहाँ भी जेड के आकार का गड्ढा खुदा होगा ?"

जानता हूँ कि यह बालक यूरोपियन स्कूल में पढ़ता है, उम्र की तुलना में अधिक तेज़ है, घर का वातावरण भी ऐसा है कि अंतर्राष्ट्रीय वातावरण की चर्चा होती रहती है। बच्चे पर सोसाइटी का प्रभाव है।

मगर, आज उसकी बुद्धि से जो भयजनक प्रश्न निकले, उसका असर मुझ पर पड़ा। छह वर्ष का बच्चा बम, बम-बाजी और उसके कुपरिणामों को जानता है, वह भय से आक्रांत है और अपने अंकल को खबरदार कर रहा है।

आखिर ऐसी स्थिति क्यों आई ?

आज प्रत्येक राष्ट्र शस्त्रों की शक्ति से अजेय होना चाहता है। राष्ट्र-राष्ट्र से भय खा रहा है, आदमी-आदमी से भय खा रहा है। मानवों के बीच में रहते हुए भी मानव अपने को अरक्षित पा रहा है।

होड़ शस्त्रों की है, सदाशयता की नहीं।
निमंत्रण मृत्यु को है, जीवन को नहीं।

फिर भी प्रश्न-चिन्ह लगा हुआ है कि वस्तुतः हम अजेय किसे मानें !

निर्णय करना मुश्किल है कि कौन अजेय होगा। एक देश शांति की रट लगाता है, दूसरा बम के प्रयोग करता है। तीसरा राष्ट्र अणुबम-प्रयोग पर रोक लगाने की माँग करता है, तो चौथे राष्ट्र का रेडियो बोलता है—हम चाहें तो उन्हें सबक सिखला सकते हैं, दस मिनट में यहाँ से बैठे-बैठे उनके देश को ध्वस्त कर दे सकते हैं। उन्हें अपनी बुद्धि को ठिकाने लाना चाहिए।

बम बने, युद्धक विमान बने !

युद्धक विमानों को मार गिराने के लिए राडार बने,

तो फिर राडार-प्रूफ युद्धक विमान तैयार हो गए।

मगर, संतोष न हुआ। मानव-संहार का यह तरीका निरापद नहीं जान पड़ा, तो लोगों ने मिसाइल बना लिये—थोरो मिसाइल।

मास्को में एक बटन ऑन किया गया और दस मिनट बाद अमरीका स्वाहा। अमरीका में एक बटन ऑन किया गया और मास्को भस्माभूत !

इस प्रकार की संभावना को जन्म दिया जा रहा है, पाला-पोसा जा रहा है। उस रोज नहीं पढ़ा, अमरीका का स्ट्रेटेजिक एयर कमाण्ड बड़ा तगड़ा है। चौबीस घंटे पंद्रह सौ बम वर्षक वायुयान ऐटम-बम से लैस आकाश में उड़ते रहते हैं। पंद्रह सौ नीचे बिलकुल तैयार रहते हैं। सुनते हैं, केवल तीन मिनट का समय मिलते ही इनके चालक इन वायुयानों को लेकर सीधे रूस की ओर चल दे सकते हैं। ड्यूटी के वक्त ये वर्दियों में ही सोते, वर्दियों में ही खाना खाते हैं। आदेश मिला और वे हवाई जहाज के भीतर पायलट के उस स्थान पर जहाँ बुलेट-प्रूफ प्लास्टिक की छत लगी है।

मगर, संसार के किसी कोने से ऐसी खबर आज तक नहीं मिली कि अमुक राष्ट्र एक ऐसा विचार प्रसारित करेगा, जिससे अमुक राष्ट्र की ग़रीबी, भुखमरी और प्राण जाने की आशंका दूर हो जाएगी। मनुष्य स्वाभाविक मृत्यु के अलावा किसी और प्रकार की मृत्यु का उदाहरण तक नहीं पाएगा।

विश्व में आज जो इस प्रकार का तनाव मानव-मन पर

छाया हुआ है। इससे द्रवित होकर हमारे वर्तमान राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा :—

"अच्छे आदर्श ही पर्याप्त नहीं हैं। अच्छी कार्य-प्रणाली भी चाहिए। कैलाग पैक्ट के रचयिताओं ने कहा था—केवल राष्ट्र ही यह निर्णय कर सकता है कि जिन परिस्थितियों में आत्म-रक्षा के लिए युद्ध का अवलंब किया जा सकता है, वे उपस्थित हैं या नहीं।"

यदि हमें राजनीतिक साधन के रूप में युद्ध का उपयोग बंद करना है, तो ऐसा कोई अपवाद नहीं माना जा सकता। और, न्याय संगत युद्ध तो हो ही नहीं सकता। युद्ध को हमें छोड़ ही देना होगा। जब वह रक्षा के लिए किया जाए, तब भी हमें उसे न्याय्य नहीं ठहराना चाहिए; क्योंकि रक्षा संभावित और आशंकित खतरों के विरुद्ध भी हो सकती है।

और, जहाँ धुँधलका छाया हो, वहाँ हम प्रकाश और अंधकार के बीच में लकीर कैसे खींचेंगे ? फिर हिंसा के पीछे प्रतिहिंसा चलती है और सत्य को सिर उठाने का अवसर ही नहीं मिलता। जब तक राष्ट्र अपनी ही राहों पर चलते रहेंगे, संघर्ष चलता रहेगा। जब तक राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता रंचमात्र भी तजने को तैयार नहीं हैं, तब तक हम सब देशों के परस्पर विरोधी हितों और आकांक्षाओं का सामंजस्य नहीं कर सकेंगे। संधियाँ, कूट-नीतिक समझौते और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आवेश को थोड़ी देर

के लिए शांत कर सकते हैं, वे भय का निवारण नहीं कर सकते। उसके लिए भी संसार को प्रेम से रंगना होगा।"

आज मानव-समाज के तलपट में जो युद्धीय तनाव पल रहा है, उससे दार्शनिक राधाकृष्णन तो क्या वैज्ञानिक आइंस्टीन भी विचलित हो उठे, जिन्होंने बहिर्जगत में सत्य को खोज निकाला।

द्वितीय-विश्वयुद्ध के पाँच-सात वर्ष पूर्व उन्होंने प्रो० सिग्मंड फ्रायड् के नाम जो पत्र लिखा था, उससे उनकी मनःस्थिति का पूरा-पूरा अंदाजा लगाया जा सकता है। वह पत्र इस प्रकार था :

कैयुत (पोत्सदम के पास)
३० जुलाई, १९३२

मान्य प्रोफेसर फ्रायड्,

मेरी समस्या यह है—क्या मानव-जाति को युद्ध की विभीषिका से बचाने का कोई मार्ग है ? मैं मानता हूँ कि विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति को देखते हुए यह मानव-समाज के जीवन-मरण का प्रश्न है।

राष्ट्रीय पक्षपात से विमुक्त होने के कारण, मुझे इस समस्या के बाह्य रूप का—व्यवस्था-संबंधी पक्ष का एक सीधा-सा समाधान सूझता है। एक विधि-निर्मात्री एवं न्यायकर्त्री संस्था स्थापित की जाए, जो समस्त राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का निपटारा करे; प्रत्येक राष्ट्र इस संस्था के बनाये कानूनों को मानने, समस्त विवाद्य विषय उसे निर्णयार्थ सौंपने, उसके निर्णयों को शिरोधार्य करने तथा उन्हें लागू करने के लिए, संस्था द्वारा निर्दिष्ट कार्रवाई

करने का दायित्व ले। पर, यहाँ एक और समस्या उठती है। यह न्यायालय एक मानवीय संस्था होगी; अपने निर्णयों को लागू कराने की उसमें जितनी ही कम शक्ति होगी, उसी अनुपात में, उसके फैसले बाहरी दबावों से प्रभावित होंगे। यह एक कटु सत्य है। हम इससे आँखें नहीं मूँद सकते—कानून और शक्ति अभिन्न सहचर हैं।

अतः मैं अपनी इस प्रथम स्थापना पर पहुँचता हूँ—अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा की स्थापना के लिए अनिवार्य है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने व्यवहार-स्वातंत्र्य का अर्थात् अपनी प्रभुसत्ता का, कुछ अंश विश्व-संस्था को समर्पित कर दे। इसके सिवाय विश्वशांति का कोई मार्ग नहीं। स्पष्ट ही, ऐसे समर्पण में बाधा डालने वाले अनेक मानसिक तत्व हैं। सत्तालिप्सा, जो प्रत्येक देश के शासक वर्ग का मुख्य लक्षण है, राष्ट्र की प्रभुसत्ता को मर्यादित करने की विरोधी है। यह सत्तालिप्सा एक और छोटे-से वर्ग को भी प्रभावित करती है, जिसके सदस्य जनहित की चिंता न कर युद्ध और शस्त्रास्त्रों के निर्माण एवं विक्रय को मुनाफा कमाने और अपनी साख-धाक जमाने का सुअवसर समझते हैं।

प्रश्न उठता है कि यह अल्प संख्यक जनता की इच्छा-शक्ति को अपनी महत्वाकांक्षा का साधन कैसे बना लेता है? बहु-संख्यकों को—और जिनमें मैं सैनिकों को भी सम्मिलित करता हूँ—तो युद्ध से हानि-ही-हानि है। मुझे इसका कारण यही दीखता है कि समस्त शिक्षणालय, पत्र-पत्रिकाएँ और कहीं-कहीं

तो धर्म-संस्थाएँ भी, इस अल्पसंख्यक सत्तारूढ़ वर्ग के अधीन हैं।

सवाल है—ये साधन हममें इतना उग्र भावावेश कैसे उत्पन्न करते हैं कि हम प्राण भी गँवाने को तैयार हो जाएँ ? इसका एक ही उत्तर संभव है। मनुष्य में विध्वंसप्रियता और घृणा घर किये बैठी है। सामान्यतः वे सुषुप्त रहती हैं; परंतु उन्हें जगा कर सामुदायिक उन्माद का रूप देना विशेष कठिन नहीं। शायद सारी उलझन की जड़ यही है।

परंतु, क्या मानव-मन का ऐसा नियंत्रित विकास संभव नहीं है कि वह विद्वेष और विध्वंस के उन्माद से प्रभावित न हो ? मैं केवल असंस्कृत जन-साधारण की बात ही नहीं सोच रहा हूँ। विध्वंसात्मक प्रचार सुशिक्षित बौद्धिक वर्ग को अधिक जल्दी ग्रसता है; क्योंकि यह वर्ग जीवन को प्रत्यक्षतया नहीं, छपे अक्षरों के माध्यम से जानता है।

अब तक मैंने राष्ट्रों के संघर्षों की ही चर्चा की। मैं जानता हूँ कि आक्रमण-वृत्ति अन्य परिवेशों में भी, अन्य रूपों में भी कार्यरत है, जैसे गृह-युद्ध और अल्पसंख्यक जातियों का उत्पीड़न आदि। लेकिन, युद्ध पर इतना जोर मैंने जान-बूझ कर दिया है, क्योंकि मानव-मानव के संघर्ष का वह उग्रतम, क्रूरतम एवं सबसे व्ययसाध्यरूप है और यदि उसका समाधान मिल जाए, तो सशस्त्र संघर्षमात्र के उन्मूलन का मार्ग खुल जाता है।

आपका
अल्बर्ट आइंस्टीन

और, आपने देख लिया कि सन् १९३२ ई० में महान आइंस्टीन ने जो इच्छा अपने उपरोक्त पत्र में व्यक्त की, आगे चल कर उसकी पूर्ति हुई—राष्ट्र संघ का निर्माण हुआ। स्मरण कीजिए आइंस्टीन की इस पंक्ति को—"एक विधि-निर्मात्री एवं न्यायकर्त्री संस्था स्थापित की जाए, जो समस्त राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का निबटारा करे...।"

और, युद्ध ही द्वारा अजेयता प्राप्त करने की स्थिति पर सिग्मंड फ्रायड ने भी क्षोभ प्रकट किया। आइंस्टीन के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने एक जगह लिखा—"हमारी प्रत्येक मानसिक प्रेरणा में अनेक भावों का सम्मिश्रण होता है। अतः, रणभेरी बजने पर, नाना प्रकार की उदात्त और गर्हित भावनाओं में उभार आता है। आक्रमण और विध्वंस की चाह इनमें होती ही है। आदर्श के नारे की आड़ में इन्हें खुली छूट मिल जाती है। संसार के किसी भी घोर हिंसा-कांड का विश्लेषण करने पर आप देखेंगे कि उसमें विध्वंसेच्छा ने आदर्श को शिखंडी बनाया है।"

और, संसार की ऐसी स्थिति में विश्व के लगभग अस्सी राष्ट्र खुले दिल से इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारत शांति-कामी राष्ट्र है। क्या हर्ज है अगर एक-दो युद्धलोलुप देशों ने चीन-भारत युद्ध की चर्चा करते हुए भारत को आक्रामक बतलाया ? हमें उनकी बातें कान पर नहीं लानी चाहिए और देश की सुरक्षा की दृष्टि से हमारे सामने जो भी कार्य-क्रम आएँ, उनकी कार्यान्विती में हमें हाथ बटाना चाहिए।

हम अपनी सुरक्षा चाहते हैं और चाहते हैं कि संसार के बाकी लोग भी सुरक्षित रहें। हम महान अर्ल एटली के इन शब्दों में विश्वास करते हैं : "चाहे कोई राष्ट्र अपने युद्धास्त्रों में जितना विकास कर ले, मगर वास्तव में आज वही राष्ट्र, वही व्यक्ति अपराजेय माना जाएगा, जो संसार से गरीबी, भुखमरी और मानव के प्रति मानव का आतंक दूर कर सके।"

हम आशावादी हैं और शांति तथा मानवता में आस्था रखते हैं। मगर, इस प्रकार की आस्था को जीवित रखने के लिए, सबल और सक्रिय बनाये रखने के लिए हमें आलस्य और असावधानी को त्यागना होगा। हमें अपने चेतना के स्तर को क्षण-प्रति-क्षण समृद्ध करना होगा। हम संकीर्ण गलियों से इस महान मंजिल तक नहीं पहुँच सकेंगे, समृद्धि की मंजिल तक पहुँचने के लिए खुला हुआ विशाल पथ अपनाना होता है। हम जाति, संप्रदाय के दलदल में नहीं फँसेंगे, बल्कि इससे भी दो क़दम आगे बढ़ कर हम संसार को संदेश देंगे कि अपने-आप को सर्वप्रथम मानव मानना सीखिए। वर्ग भेद की काई-काई मन पर मत जमने दीजिए। अपने व्यक्तित्त्व में पुरुष अथवा नारी का विग्रह-विभेद भी मत मानिए—अपने को आदि-अंत एवं सर्वत्र मनुष्य ही समझिए। अपनी ही मूर्खता के फलस्वरूप समस्त मानवता पर विपत्ति की घटाएँ सघन हो रही हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इससे बचें और मानवता को बचावें।

● ● ●

१४. राष्ट्रीय गोपनीयता

यदि मुझसे कोई पूछे कि राजदूत कैसे व्यक्ति को बनाया जाना चाहिए, तो मैं कहूँगा—उसी व्यक्ति को, जो कम-से-कम बोलने और अधिक-से-अधिक सुनने का आदी हो।

—रूडाल्फ हिटलर

जहाँ तक मुझे स्मरण है, बात आज से तीन चार साल पुरानी है। मेरे एक विदेशी मित्र यहाँ आए हुए थे। हिंदी-भाषा के प्रकाण्ड पंडित। अपने देश के किसी विश्वविद्यालय में हिंदी पढ़ाते थे। इधर वे डी०लिट्० की उपाधि पाने के लिए कोई शोध-ग्रंथ लिख रहे थे और उसी के लिए कुछ सामग्री प्राप्त करने भारत पधारे थे।

हम दोनों का परिचय अब तक केवल पत्राचार तक ही सीमित था। आए, तो गले मिले। हम कुछ साहित्यकारों ने उनके सम्मान का आयोजन किया और उनके लिए बोलने का विषय रखा—'उनके देश में हिंदी की स्थिति।'

बहुत-से लोग इस गोष्ठी में आए और मेरे मित्र ने बड़ा ही

सारगर्भित भाषण किया। उन्होंने हिंदी भाषा की प्रकृति की प्रशंसा की, हिंदुस्तान की प्रशंसा की। अपने पचास मिनट के भाषण में उन्होंने अंग्रेजी के एक भी शब्द का उपयोग न किया और लगातार हिंदी के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते रहे।

गोष्ठी देर से समाप्त हुई—रात के लगभग दस बजे। गोष्ठी-समाप्ति पर हमलोग लौटने को तैयार हुए। वे भी बाहर आए। उन्हें होटल में जाना था। वे एक व्यक्ति द्वारा यहाँ मोटर से लाये गए थे। उसी मोटर का द्वार खोलते हुए उन्होंने मुझसे कहा, "अब आप भी अपनी गाड़ी में बैठें और निवासस्थान को चले जाएँ। बड़ी सरदी है। फिर कल प्रातः हम दोनों मिलेंगे।"

फिर वे बाहर ही इस प्रतीक्षा में खड़े रहे कि मैं अपनी मोटर की ओर बढ़ूँ, तो वे भीतर जाएँ। उनके इस मनोभाव को समझ कर मैंने कहा, "आप चिंता न करें। मैं रिक्शे से चला जाऊँगा। मेरी गाड़ी खराब हो गई है। उसे वर्कशॉप में दे दिया है।"

फिर मैं दूसरे रोज सुबह उस होटल में पहुँचा, जिसमें वे ठहरे हुए थे। हमलोग कॉफी का प्याला खाली करते हुए घंटों हिंदी-साहित्य के संबंध में बातें करते रहे।

उपरोक्त विवरण को सुनकर आप कहेंगे कि जनाब, आपने कौन-सी नई बात कही। हर देश में विदेशी आते-जाते रहते हैं। चाहे वे राजनेता हों, चाहे वैज्ञानिक, चाहे डॉक्टर, चाहे इंजीनियर, चाहे कलाकार या लेखक या भाषा-विशेषज्ञ। इस

विवरण में आपने राष्ट्रीय गोपनीयता की बात कहाँ कही ?

और, मैं कहता हूँ कि इस विवरण के माध्यम से मैंने आपको बतला दिया कि राष्ट्रीय गोपनीयता का एक रूप यह भी है। आप उत्सुक होकर हमसे पूछना चाहेंगे—कहाँ और कैसे ?

मैंने अभी-अभी आपको बतलाया है कि मेरे उस विदेशी मित्र ने मुझसे कहा—"अब आप भी अपनी गाड़ी में बैठें और निवास-स्थान को चले जाएँ।"

पर, मैं यहाँ झूठ बोल गया। मैंने कहा, "मेरी गाड़ी खराब हो गई है। उसे वर्क-शॉप में दे दिया है।"

यदि मैं सत्य बोलना चाहता, तो कहता, "मेरे पास गाड़ी नहीं है।"

विदेशी मित्र ने मुझसे जो गाड़ी के संबंध में कहा, कुछ ग़लत नहीं कहा, अनुमान से नहीं कहा, व्यंग्य-भाव से नहीं कहा, बल्कि सच बात तो यह है कि पश्चिमी देशों में प्रत्येक अच्छे लेखक के पास अपनी मोटरकार होती ही है। और, मैं अनुभव करता हूँ कि ऐसी स्थिति में झूठ बोलना ही मेरे लिए उचित था—सच से भी अधिक उचित। यहाँ झूठ बोलने में ही मेरे देश की लाज बच सकती थी, सच बोलने में नहीं। हाँ, यहाँ यदि मैं सच बोलने की कोशिश करता, तो मुझे कहना पड़ता, "बंधु, यह आप क्या कह रहे हैं ? मेरे पास भला गाड़ी कहाँ से होगी ? रिक्शे के लिए भी पास में बराबर पैसे नहीं होते।"

और, जैसे मैं दूसरे रोज उनसे होटल में मिला था, तो उस

स्थिति में मैं अपने दिल के सारे गुबार निकाल सकता था, सारे क्षोभ प्रकट कर सकता था, जो यहाँ की सामाजिक व्यवस्था के कारण मेरे हृदय में उफान मारते रहते हैं। मैं कह सकता था, "मेरे देश में हजार में भी एक ऐसा साहित्यकार नहीं है, जिसके पास अपनी गाड़ी होती है। उस पर भी हिंदी का साहित्यकार ? कुछ न पूछिए, वह तो अपना सम्मान बचाते हुए दोनों जून भोजन भी नहीं पा सकता। और कार रखने की बात ? ऐसी बात वह सपने में भी नहीं सोचता। हिंदी में पाठकों की भी बड़ी कमी है। लोग दस रुपए की शराब पी सकते हैं, पाँच रुपए का सिनेमा देख सकते हैं; पर दो रुपए की पुस्तक खरीद कर नहीं पढ़ सकते। समझ लीजिए कि हमारा बुरा हाल है।"

पर, जब मैं राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचता हूँ, तब पाता हूँ, कि ऐसा कहकर वास्तव में मैं एक बड़ी भूल करता। कहना चाहिए कि मैं राष्ट्रीय गोपनीयता की हत्या करता। वहाँ मैं राष्ट्रीयता की जमीन से अलग जा गिरता।

आप बराबर ऐसा देखते होंगे कि हमारे यहाँ से जब कोई व्यक्ति विदेश जाता है और लौट कर आता है, तब हम उससे कहते हैं—"भाई, अपने विदेश के अनुभव सुनाइए।"

हमारे अनुरोध को स्वीकार करके वह व्यक्ति अपने अनुभव सुनाता है। वहाँ उसे कैसा भोजन मिलता था, वहाँ के बाजार कैसे हैं, वहाँ के होटल कैसे हैं, वहाँ के मध्यवर्गीय लोगों का क्या हाल है, वहाँ के मजदूरों और मिल-मालिकों की क्या स्थिति है,

वहाँ धर्म-कला-विज्ञान की क्या स्थिति है। और ठीक वैसे ही हमें यह भी सोचना चाहिए कि बाहर से जो विदेशी भारत में आते हैं, वे भी जब अपने मुल्क लौटते होंगे, तो उनके निकट के लोग उनसे विदेश के अनुभव पूछते होंगे। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जो व्यक्ति जिस पेशे का होता है, उससे मिलने-जुलने वाले लोग वैसे ही होते हैं।

अमरीका का ब्रह्मवादी राफ वाल्डो इमर्सन केवल देह से अमरीकी था, आत्मा में तो वह भारत के वेदांत का चैतन्य-रूप ही था। इसीलिए अमरीकी भूमि पर उसके जन्म को 'भौगोलिक भूल' बतलाया जाता है। जीवन के चरम-तत्त्वों की खोज में आजीवन लीन इमर्सन की लेखनी ने संसार के वैचारिक क्षेत्र को बहुत ही सुवासित सुमन प्रदान किये हैं। उसी महा विचारक इमर्सन ने एक जगह लिखा है—"आदमी की पहचान के लिए देखो, वह पढ़ता क्या है किनकी संगत में रहता है, किनकी प्रशंसा करता है, वह कैसी कहानी कहता है, वह चलता कैसे है, उसकी आँखें इशारा कैसे करती हैं ? अरे, उसके मकान का रुख, उसके कमरे की सजावट—ये सब उसके व्यक्तित्व की झाँकी देते हैं। संसार में सब कुछ एक दूसरे से संबद्ध है।"

यह स्पष्ट है कि मेरा विदेशी मित्र भी अपने देश में साहित्य प्रेमियों, समालोचकों और लेखकों से मिलता-जुलता होगा, पारिवारिक कार्यों के बाद वह अपना सारा समय ऐसे ही लोगों के बीच गुजारता होगा।

क्या हम यह आशा नहीं करें, कि जब वह व्यक्ति स्वदेश लौटा होगा, तब वहाँ के साहित्यकारों ने उससे भारत-यात्रा का अनुभव पूछा होगा ? अवश्य पूछा होगा। और, यह यहीं बात ध्यान देने योग्य है कि जब कोई मित्र उससे पूछता, "वहाँ हिंदी के साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति कैसी है ?" तब वह मेरे द्वारा सच्ची अभिव्यक्ति को व्यक्त कर देता; क्योंकि सत्य बोलने के नाम पर मैं यहाँ उससे कह चुका होता, "मेरे देश में हजार में भी एक ऐसा साहित्यकार नहीं है, जिसके पास अपनी गाड़ी होती है। उस पर भी हिंदी का साहित्यकार ? कुछ न पूछिए, वह तो अपना सम्मान बचाते हुए दोनों जून भोजन भी नहीं पा सकता। और कार रखने की बात ? ऐसी बात वह सपने में भी नहीं सोचता।"

और, तब इस सत्य को सुनकर वहाँ का बुद्धिजीवी वर्ग हमारे देश की इस स्थिति पर तरस खाता। उन लोगों के तरस खाने से भारत के साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति तो नहीं सुधरती, हाँ, हमारा सांस्कृतिक अपमान अवश्य होता। ऐसी ही स्थितियों में हमें राष्ट्रीय गोपनीयता का ध्यान रखना होता है। अगर हम विचार करें, तो पता चलेगा कि हमारे सामने अक्सर अनेक राष्ट्रीय प्रश्न आते रहते हैं, जहाँ सही उत्तर देना पाप होता है।

बहुत वर्ष पहले की बात है। जापान में एक फौजी अफसर था। वह बड़ा ही तंदुरुस्त, उच्च शिक्षा प्राप्त, सुंदर और हँसमुख था। उसकी बहाली सम्राट् के अंगरक्षक के पद पर होने वाली

थी, मगर वह मात्र इसीलिए छाँट दिया गया; क्योंकि खुफिया विभाग को पता लगा कि उसने जापान स्थित एक राजदूतावास के किसी वरिष्ठ कर्मचारी से कभी कहा था—"आजकल हमारे यहाँ खाद्य-सामग्री का बड़ा अभाव है। देहातों में कई लोग भुखमरी के शिकार हो गए हैं।"

बात बिलकुल सही थी। उसने सच ही कहा था, पर इस सत्य को राष्ट्रीय अपराध माना गया और उसे तब सम्राट् के अंगरक्षक का पद तो नहीं ही मिला, उलटे उसके पद की अवनति हो गई।

यह बड़े दुःख की बात है कि हमारे यहाँ आज भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं, जो राष्ट्रीय गोपनीयता के महत्त्व को नहीं समझते। यदि मैं कुछ आगे बढ़कर कहूँ, तो स्पष्ट कहूँगा कि हमारे यहाँ ऐसे लोग भी हैं, जो इसके महत्त्व को समझते हुए भी ऐसा काम करते हैं, जिससे हमारी राष्ट्रीय गोपनीयता को आघात पहुँचता है। इस स्थिति में मैं अपनी वर्त्तमान सरकार की भी आलोचना करूँगा। आप जानते हैं कि रेडियो से प्रत्येक दिन तीन-चार बार समाचार प्रसारित किये जाते हैं। चीन के साथ हमारा सीमा-तनाव समाप्त नहीं हुआ है। हम राष्ट्र का अधिकांश ध्यान प्रतिरक्षात्मक तैयारी की ओर लगाये हुए हैं, राष्ट्रीय धन का उपयोग इस काम में कर रहे हैं। यह तो हमारा सबल पक्ष है। कोई भी राष्ट्र ऐसी स्थिति में वही करता, जो हम कर रहे हैं। हमारे सामने ऐसा कोई कारण नहीं; जिसे देखते

हुए हम विस्तारवादी चीन को अपनी प्रादेशिक अखंडता सौंप दें। पर, हमारी सरकार एक भूल भी करती है। वह भूल साधारण भूल नहीं है। हम प्रायः नित्यप्रति अपनी सामरिक तैयारी के समाचार सुनते हैं। इससे भारतीय जनता को संतोष तो होता है, पर शत्रुदेश को इससे लाभ भी पहुँचता है। शत्रुदेश हमारी सामरिक गतिविधियों से परिचित होता रहता है। हम क्या समझते हैं कि हमलोग जो समाचार आकाशवाणी से प्रसारित करते हैं, उसे केवल भारतीय जनता ही सुनती है, दूसरे देश वाले नहीं सुनते ? खासकर, हमारा शत्रु-देश चीन तो इन समाचारों पर विशेष ध्यान देता होगा। उस देश के उच्च अधिकारी अवश्य ही इन समाचारों से लाभ उठाते होंगे।

८ अक्तूबर, सन् ६२ की रात को चीन ने हमारे देश की सीमा पर भीषण आक्रमण किया और जब संसार को यह बात मालूम हुई, तो लोग चीन की शिकायत करने लगे। इस आक्रामक नीति के कारण चीन का इतना बुरा हाल हुआ कि महज दो तीन छोटे-छोटे देश ही उसके साथ रह गए, बाकी संपूर्ण विश्व के किसी कोने से उसे सहानुभूति नहीं मिली, सत्तर करोड़ आबादी वाला वह देश विश्व में अकेला पड़ गया। कि, इसके विपरीत भारत को विश्व के कोने-कोने से सहानुभूति मिली, मित्र राष्ट्रों ने खुले हृदय से, बिना किसी शर्त्त के भारत की सहायता की और यह सहायता अब भी मिल रही है। पर, अपने बचाव के लिए चीन के राजनेताओं ने हमारे आदरणीय प्रधान मंत्री

पं० जवाहरलाल नेहरू की एक बात पकड़ ली और उसी को आधार बना कर अपने को निर्दोष प्रमाणित करने की चेष्टा की। यह बात ठीक है कि सत्य सामने आ गया और चीन के राज नेताओं को लज्जित होना पड़ा, पर कुछ रोज तो वे पं० नेहरू की एक बात को ऐसा ढाल बनाये रहे, जिसे न तो कोई छीन सकता था, न तोड़ सकता था और वह बात यह थी कि इस अघोषित भारत-चीन युद्ध के कुछ ही रोज पूर्व हमारे प्रधान मंत्री ने श्री लंका की यात्रा की थी और हवाई अड्डे पर उन्होंने एक पत्रकार को कहा था—"हमने अपनी सेना को आदेश दे दिया है कि वे अपनी सीमा में आने वाले चीनी सैनिकों को खदेड़ दें।"

यह ठीक ही कहा जाता रहा है कि झूठ बोलना और बातें बनाना किसी को सीखना हो, तो वह चीन के नेताओं से सीखे। इस कला में वह बड़े चतुर होते हैं। बात भी सच निकली। चीनियों ने भारत की सीमा पर हमला बोल दिया और जब उसकी शिकायत होने लगी, तब उन्होंने गला फाड़-फाड़ कर कहना शुरू किया—"हमने तो आत्मरक्षा के लिए सैनिक कार्रवाई की। भारत के प्रधान मंत्री नेहरू जी ने उस रोज हवाई अड्डे पर एक पत्रकार से कहा था......हम पर जब आक्रमण किया गया, तो क्या हम आत्मरक्षा भी न करते ?"

यहाँ उन्होंने पंडित नेहरू के शब्दों के अर्थ और संगति को खूब तोड़-मरोड़ कर पेश किया। वस्तुतः पंडित नेहरू के कथन का अर्थ यह था कि बात तो जहाँ-की-तहाँ तनावपूर्ण स्थिति में है ही,

पर यदि चीनी सैनिक और भी सीमा का अतिक्रमण करें, तो हमारे सैनिक उन्हें पीछे ढकेल दें। पर, चीनियों ने उनके इस कथन का अर्थ इस प्रकार गढ़ा—भारत के प्रधान मंत्री ने अपने सैनिकों को आदेश दे दिया था कि वे चीन पर हमला करें।

पं० नेहरू को इस प्रकार पत्रकार के प्रश्न का उत्तर न देकर इस प्रकार देना चाहिए था—"हमारी फौज पर यह भार है कि वह सीमा पर घटने वाली किसी भी आकस्मिक स्थिति का डट कर मुकाबला करे। और, हमने अपनी फौज को ऐसा आदेश भी दे रखा है।"

और, वास्तविकता भी यही थी। संसार के गणमान्य राजनीतिक पर्यवेक्षकों ने एक स्वर से इस बात को स्वीकार किया कि हमला भारत की ओर से नहीं, बल्कि चीन की ओर से हुआ। पर, थोड़े-से शब्दों के हेर-फेर के कारण आक्रामक चीनी सप्ताहों तक ईमानदार बने रहे।

मैं प्रायः पेकिंग-रेडियो से प्रसारित होने वाले हिंदी-कार्यक्रम सुना करता हूँ। पर, पेकिंग-रेडियो कभी भी अपनी सैनिक तैयारी के समाचार नहीं प्रसारित करता। जब कि सत्य यह है कि आज हमारी पश्चिमी और पूर्वोत्तर सीमा पर चीन ने भीषण सामरिक तैयारी कर रखी है।

राष्ट्रीय गोपनीयता की दृष्टि से मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि हमारे रेडियो सारे समाचार प्रसारित करें, पर अपनी सामरिक तैयारी की सूचना न दें। मेरे एक मित्र ने, एक रोज मेरे

इस दृष्टिकोण का विरोध किया। बोले, "नहीं, आपका यह विचार ठीक नहीं है। जनता को कैसे मालूम होगा कि हमारी सरकार प्रतिरक्षा के लिए क्या कुछ कर रही है ?"

पर, मैं इसे नहीं मानता। जनता को ऐसा महसूस नहीं होना चाहिए कि उसका जीवन अरक्षित है—बस इतनी-सी बात। यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि हम युद्ध की संकटकालीन स्थिति में जनता को सामरिक आँकड़े दें। जनता को आँकड़े नहीं, सुरक्षा और सुनिश्चितता चाहिए।

अभी कुछ रोज पहले हमने अखबारों में यह समाचार पढ़ा कि एक भारतीय फौजी अफसर पाकिस्तानी राज दूतावास के सैनिक सलाहकार से मिल गया था और उसे सामरिक महत्त्व के भेद बतलाने में पकड़ा गया। हो सकता है, ऐसे जघन्य अपराध के लिए उस भारतीय सैनिक अफसर को पाकिस्तानी दूतावास ने काफी धन दिया हो, पर धन के लोभ में आकर वह भारत को कैसी क्षति पहुँचाने को तैयार हो गया ? फिर सवाल यह उठता है कि उसने ऐसा क्यों किया ? अपनी सफाई के लिए, अपने बचाव के लिए वह भारतीय फौजी अफसर, भारत सरकार को चाहे तो बहुत-से कानूनी उत्तर दे सकता है, बहुत तरह की बातें बना सकता है। पर, हम यहाँ कानूनी दाँव-पेंच की बातें न भी करें, तो भी कह सकते हैं कि उसने धन के लोभ में पड़ कर राष्ट्रीय गोपनीयता के महत्त्व को नहीं समझा। यदि उसका हृदय इस तथ्य को अच्छी तरह समझ गया होता कि ऐसा करके तो

वह अपने देश की प्रतिरक्षा-प्राचीर को तोड़ रहा है, तो उससे ऐसी भूल कदापि न होती। एक क़दम और आगे बढ़ कर उसकी इस ग़लती से उत्पन्न परेशानियों पर विचार कीजिए।

यहाँ भारत में जैसे ही ये लोग पकड़े गए, उसके दो रोज बाद ही पाकिस्तान ने पाकिस्तान स्थित राजदूतावास में भारतीय सैनिक-सलाहकार पर इसी प्रकार का इल्ज़ाम लगा दिया और हमारी सरकार के सामने एक और नई समस्या आ गई। देखिए, स्थिति किस प्रकार जटिल से जटिलतर होती गई।

राष्ट्रीय गोपनीयता बरतने के अर्थ में विदेशी हमलोगों से बहुत समझदार होते हैं। सफर के समय, प्रवासकाल में मेरा परिचय अनेकों विदेशी लोगों से हुआ है। बातचीत के क्रम में मैंने बहुत कोशिश की है कि उनके देश के आंतरिक मामलों से परिचित हो सकूँ। पर, मैंने जब भी ऐसा प्रसंग छेड़ा, मैंने पाया कि वे इस विषय को टाल देते हैं। उदाहरण के लिए मैंने पूछा, "आपके देश में आम मजदूरों की दैनिक आमदनी क्या है?"

उत्तर इस प्रकार मिला, "उनकी आमदनी अच्छी ही है। हमारे देश में मशीनों के नए-नए कारखाने खोले जा रहे हैं। हमलोगों ने पिछले वर्ष डेढ़ करोड़ रुपए का खिलौना विदेशों को निर्यात किया।"

सोचिए, उनका यह उत्तर मेरे मूल प्रश्न का उत्तर कहाँ हुआ? मैंने पूछा, "आपके यहाँ विश्वविद्यालयों में छात्रों पर तो कोई राजनैतिक दबाव नहीं डाला जाता? मेरा मतलब यह कि

वे खुलकर अपने विचार अथवा सिद्धांत तो व्यक्त कर सकते हैं न ?"

मेरे इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार मिला, "हमारे विश्वविद्यालयों में हर विषय की पढ़ाई होती है। वहाँ के पुस्तकालयों में भारतीय भाषा के साहित्य का बहुत विशाल संग्रह है। आप हमारे देश में आवें, तो हमारे विश्वविद्यालय में देखें। आपका स्वागत करके हमें प्रसन्नता होगी।"

मैं स्पष्ट नाम नहीं बतलाऊँगा, पर इतना संकेत कर दूँ कि मैंने ऐसा सवाल उसी देश के प्रतिनिधिमंडल के एक सदस्य से किया था, जहाँ के बारे में मुझे ज्ञात था कि वहाँ के छात्रों को एक घंटा रोज वर्त्तमान सरकार की नीति के समर्थन में भाषण सुनना पड़ता है। कोई भी छात्र अपना स्वतंत्र विचार नहीं रख सकता। एक छात्र दूसरे छात्र पर विश्वास नहीं करता। सबको डर बना रहता है कि हो सकता है, इसी में से कोई सरकारी जासूस हो। वहाँ के विश्वविद्यालयों के छात्र विदेशी छात्रों से घुल-मिल कर बातें नहीं कर सकते, उनके साथ बाजार में नहीं टहल सकते, सिनेमा नहीं जा सकते, पिकनिक नहीं मना सकते।

हम राष्ट्रीय गोपनीयता को कितना महत्त्व देते हैं, यह हमारी राष्ट्रीय भावना, हमारी बुद्धि और हमारी समझदारी पर निर्भर करता है। पर, हर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए इसका महत्त्व समझना अति आवश्यक है। यदि राष्ट्रीय गोपनीयता का कोई महत्त्व न होता, तो मंत्रिमंडल के सदस्यों को राष्ट्रीय गोपनीयता

की शपथ न दिलायी जाती। हमलोगों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि जब कोई नया व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में निर्वाचित होता है, तब उस देश के सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश उसे राष्ट्रीय गोपनीयता की शपथ दिलाता है और बिना इस संस्कार के संपन्न हुए वह व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर बैठ नहीं सकता।

युद्ध की स्थिति में राष्ट्रीय गोपनीयता का सर्वाधिक पालन किसी भी राष्ट्र के सैनिकों को करना पड़ता है। हम जानते हैं कि जब युद्ध होता है, तब दोनों ओर के सैनिक मारे जाते हैं। हाँ, सैन्यबल की सबलता और दुर्बलता के कारण किसी पक्ष के सैनिक कम संख्या में मारे जाते हैं और किसी पक्ष के अधिक। युद्ध के क्रम में सैनिक विपक्षी दल के सैनिकों को गिरफ्तार कर युद्ध बंदी भी बनाते हैं। और, युद्ध बंदियों की हालत कभी-कभी बहुत दर्दनाक होती है। अक्सर ऐसे चार-पाँच बंदियों को एक ही तंबू में रखा जाता है। वे एक साथ रात गुजारते हैं और आपस में बातें करते हैं कि किस प्रकार इस स्थिति का सामना किया जाए।

ऐसी स्थिति में शत्रु-पक्ष इनके तंबू में इनकी आँखें बचा कर एक माइक्रोफोन लगा देता है। माइक्रोफोन का रिसीवर कोर-कमांडर के पास रहता है। वह इनकी सारी बातों को रेकार्ड करता जाता है और सुबह ? बस, सुबह वह उन्हीं बातों के आधार पर इनसे तरह-तरह के सवाल करते-करते इन्हें पचासों थप्पड़ मारता है, रेकार्ड में तो इनकी सारी बातें आ जाती हैं।

और उन बातों से संबद्ध प्रश्न किये जाने पर युद्ध-बंदी साफ इन्कार करते हैं और कहते हैं—"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है।"

अधिकारी उनकी टाँगों पर बंदूक के कुंदे से मार कर पूछता है—"बेवकूफ, रात तो तुम यही बात कह रहे थे और अभी कहते हो कि ऐसी कोई बात नहीं है? बोलो, यही सच है न?"

इन स्थितियों से बचने के लिए चालाक सैनिक एक तंबू में रह कर भी राष्ट्रीय गोपनीयता की बातें नहीं करते। यदि वे इस प्रकार के अपमान से बचना चाहें, तो शत्रु-सेना को सारी बातें बतलाकर चैन की साँस ले सकते हैं। मगर, वास्तव में वे ऐसा नहीं करते। वे तो मार खाते-खाते मर जाते हैं, पर ज़बान नहीं खोलते। पता नहीं, इन स्थितियों में गिरफ्तार होकर प्रथम विश्व युद्ध, द्वितीय विश्व युद्ध और भारत-चीन युद्ध में कितने सैनिकों ने अपने जानें गँवा दी होंगी।

राष्ट्रीय गोपनीयता का महत्त्व केवल राजपुरुषों, राजदूतों और सैनिक-शिविरों तक ही सीमित नहीं होता। इसके और भी अनेक रूप हैं।

अपने देश के भीतर चल रही शासन-व्यवस्था की गोपनीयता भी राष्ट्रीय गोपनीयता ही है। एक उदाहरण लीजिए—

मान लीजिए—एक व्यक्ति है, जिसका नाम है, हरिवंश। वह सरकार के खाद्य-आपूर्ति-विभाग में एक उच्च अधिकारी है। देश में अकाल की स्थिति है। सरकार ने गुप्त रूप से यह निर्णय लिया कि अगले तीन रोज के बाद एकाएक चावल का मूल्य-

नियंत्रण कर दिया जाए, ताकि जनता को नियंत्रित मूल्य पर ही चावल उपलब्ध हो सके। अकाल के नाम पर चावल के व्यापारियों ने जो मनमाने मूल्य बढ़ा रखे हैं, उससे जनता को त्राण मिले। चावल की बड़ी-बड़ी मंडियों पर छापा मार कर चावल का भंडार कब्जे में कर लिया जाए। मिसाल के तौर पर यह भी मान लें कि बाजार में चावल उन्तीस रुपए मन बिक रहा है, लेकिन तीन रोज के बाद सरकार चावल का मूल्य उन्नीस रुपए प्रति मन करने जा रही है।

हरिवंश को यह बात मालूम होती है। उसकी जान-पहचान नगर के सेठ करोड़ीमल से है जो चावल का बहुत बड़ा व्यापारी है। वह रात में सेठ करोड़ीमल से भेंट करता है—सारा रहस्य उसे बतलाता है। रहस्य बतला देने के लिए एक रुपए प्रति मन पुरस्कार पाता है। करोड़ीमल चालाकी से काम लेता है। उसके पास अभी दो हजार मन चावल है। वह देखता है कि सरकार द्वारा मूल्य निर्धारित हो जाने पर उसे बाजार-दर को देखते हुए प्रति मन दस रुपए कम मिलेंगे। वह दो-तीन रोज के भीतर अपने चावल के सारे स्टॉक को छब्बीस रुपए मन बेच देता है। स्वाभाविक है कि लोग दौड़ कर उसके यहाँ जाते हैं और अधिक-से-अधिक चावल खरीद लेते हैं। और तीन रोज के बाद जब सरकारी अधिकारी उसका गोदाम खुलवाते हैं, तो वहाँ केवल खाली बोरियाँ मिलती हैं।

हरिवंश को तत्काल दो हजार रुपये तो मिल गये, पर

उसने राष्ट्रीय गोंपनीयता को खोल कर उन सैकड़ों लोगों को धोखा दिया, जो आज उसी दूकान से उन्नीस रुपए मन चावल खरीदते।

हम अक्सर समाचारपत्रों में ऐसी खबरें पढ़ा करते हैं कि सरकार के अमुक कार्यालय से कई महत्त्वपूर्ण फाइलें गायब हो गईं। आखिर इन फाइलों को कौन गायब करता है ? उत्तर है-वहाँ के ऐसे कर्मचारी, जिनके हाथों से वे फाइलें आगे-पीछे खिसकती हैं—यह अपराध करते हैं। हम यह भी जानते हैं कि सरकार के सारे कार्य, सारी योजनाएँ फाइलों से ही आगे बढ़ती हैं। अपराधियों का लेखा फाइलों में ही रहता है, ग़बन के सारे मामले फाइलों में ही दर्ज रहते हैं और कुछ पैसों के लोभ में ऐसी फाइलें लोग गायब कर देते हैं। सरकार को कितनी परेशानी हो जाती है। मैं तो जानता हूँ कि सरकार के कई आवश्यक कार्य फाइलों के गुम हो जाने के कारण ही रुक जाते हैं, कई ऐसे लोगों के मामले भीतर-ही-भीतर दब जाते हैं, जो अपराधी होते हैं और वास्तव में सरकार उन्हें दंड देना चाहती है।

इन पंक्तियों का लेखक व्यक्तिगत तौर पर एक ऐसे किरानी को जानता है, जो फाइलें तो गायब नहीं करता, पर वह ऐसा ही काम करता है, जिससे उसके दफ्तर की गोपनीयता गोपनीय नहीं रह जाती। वह एक ऐसे सरकारी कार्यालय में सीनियर किरानी है, जहाँ से एक खास प्रकार के व्यवसाय करने वालों

का संबंध रहता है। और, ऐसे व्यापारी इस किरानी को कुछ पैसे देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

राष्ट्रीय गोपनीयता की रक्षा में हमारे पत्रकार बहुत हाथ बटाते हैं। पत्रकार के नेताओं पर राष्ट्र-सेवा की बड़ी जिम्मेदारियाँ होती हैं। पर कभी-कभी वे भी भूल कर बैठते हैं। अपने अखबार के प्रथम पृष्ठ को आकर्षक बनाने के लिए बड़े-बड़े अक्षरों में उस समाचार को भी प्रकाशित कर देते हैं, जिसे प्रकाशित करना उचित नहीं होता है। देखा जाता है कि कभी-कभी किसी राजनेता से व्यक्तिगत चिढ़ होने के कारण वे उनके उस बयान को भी प्रकाशित कर देते हैं, जिसका प्रकाशन राष्ट्रीय दृष्टि से समीचीन नहीं होता। ऐसा करके पत्रकार अपने दिल में लगी आग को तो शांत कर लेते हैं, पर उससे राष्ट्र का बड़ा अहित हो जाता है। हाँ, ऐसी भूलों को रोकने के लिए सरकार ने नियम बना दिये हैं। पर, सुधार के लिए कानून ही पर्याप्त नहीं होता।

कुछ लोगों की यह अजीब धारणा होती है कि भूल स्वीकार कर लेने से स्वाभिमान को धक्का पहुँचता है। पर, यह धारणा निराधार है। बल्कि सचाई यह है कि भूल को स्वीकार करके अपने में सुधार लाना सबसे बड़ी महानता है।

भूल को नहीं स्वीकार करने का ही यह नतीजा है कि चीन आज सारे विश्व में अकेला पड़ गया है। विश्व-रंगमंच पर आज कोई भी राष्ट्र उसके गले से गला मिलाने को तैयार नहीं

है। और चीन? वह तो अपनी एक भूल पर परदा डालने के लिए अनेकों भूलें करता जा रहा है।

पहले वह भारत से उलझा, उसके मित्र देश सोवियत संघ ने उसे 'बंधु' कहकर शांतिपूर्वक सीमा-विवाद तय कर लेने को कहा। फल यह हुआ कि उसने रूस को भी अपना शत्रु समझा। शत्रु ही नहीं, रूस के कई परंपरागत प्रदेशों पर अपना अधिकार भी जतलाया। कौन जानता है कि अपनी इसी नीति के कारण चीन के शासकों का दिमाग काम न करे, वे सोवियत संघ के साथ भी युद्ध ठान लें और शांत बैठा सोवियत संघ, जो आज संसार के सारे राष्ट्रों से (चाहे वे राष्ट्र समाजवादी हों या साम्राज्यवादी) मित्रता का संबंध स्थापित करने को आतुर है, इस बात के लिए विवश हो जाए कि उसे चीन के शासकों की ज़िद की शिकार निर्दोष चीनी जनता पर उद्जन बम फेंकना ही पड़े?

जो भी हो, हमें चाहिए कि हम राष्ट्रीय गोपनीयता की रक्षा हमेशा और हर क़ीमत पर करें।

● ● ●

१६. राष्ट्रीय क्षति : राष्ट्रीय बचत

"जब राष्ट्र पर ही खतरा आ जाए, तब धन किस काम का, जीवन किस काम का ?"

—स्वर्गीय कैप्टेन तनामा

कहा गया है कि सत्य कड़वा होता है, इसलिए कड़वे सत्य को नहीं कहना चाहिए। पर, मैं धर्मसंकट में हूँ। एक छोटा-सा लेखक हूँ और लेखक का धर्म होता है कि सामाजिक बुराइयों को समाज के सामने रखे और संकेत दे कि इन बुराइयों से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है।

हमारे देश में बेईमानी करके साफ बच निकलना बुद्धिमानी का काम समझा जाता है। और, अपने को ऐसा ही बुद्धिमान साबित करने के लिए लोग नित्य ही अनर्थ किया करते हैं। अक्सर आप सुनते होंगे, अखबारों में पढ़ते होंगे कि अमुक स्टेशन पर इतने लोग बिना टिकट के पकड़े गए, बिना टिकट चलने वाले यात्रियों ने टिकट कलक्टर पर हमला कर दिया आदि आदि।

एक सज्जन मेरे परिचित थे। मैं जानता था कि वे बड़े चालाक हैं और बराबर बिना टिकट सफर करते हैं। बातचीत के क्रम में वे अपनी ऐसी चालाकी की घटनाएँ भी सुनाया करते थे।

एक रोज शाम को उनके लड़के से मुलाकात हुई। मैंने उस लड़के से यों ही सभ्यतावश पूछा, "कहो अपने पिताजी के समाचार, इधर मिले नहीं?"

लड़का बड़ी जल्दी में था। बोला, "बस उन्हीं को छुड़ाने के लिए शाम की स्टीमर से हाजीपुर जा रहा हूँ।"

"उन्हें छुड़ाने के लिए हाजीपुर जा रहे हो, क्या बात है?"

लड़के ने शरमाते हुए बतलाया, "पिताजी कटिहार से आ रहे थे। बिना टिकट थे, पकड़े गए सोनपुर में। अब एकहत्तर रुपए, सत्तर नए पैसे देकर उन्हें छुड़ा लाना है—जेल से ही तार भेजा है।"

मैंने कहा, "हाँ हाँ जाओ।"

दूसरे रोज हज़रत जब जेल से लौट कर आए, तो भेंट हुई। समाचार के बाद वे रेलवे अधिकारियों के व्यवहार की आलोचना करने लगे। उन्होंने टिकट-परीक्षक को गालियाँ दीं, सिपाहियों को गालियाँ दीं और रेलवे मजिस्ट्रेट को गालियाँ दीं। उनका मतलब यह था कि ये लोग बड़े ही दुष्ट होते हैं, शरीफ़ आदमियों को नहीं पहचानते।

मैंने जब देखा कि बोलते-बोलते उनके हृदय का भार थोड़ा हलका हो गया, तब मैंने कहा, "भाई साहब, हो सकता है कुछ

अंशों में आपका कहना सही हो। पर, यह बात कितनी अच्छी हो कि लोग बिना टिकट की यात्रा करना ही छोड़ दें ? बिना टिकट के पकड़े जाने पर अगर अधिकारी कड़ा होकर बोलते हैं, तो लोग समझते हैं कि रेलवे अधिकारियों ने उनका अपमान किया। मगर, वे यह नहीं सोचते कि बिना टिकट की यात्रा करने का मंसूबा बाँधकर उन्होंने स्वयं अपने नैतिक आचरण को कलंकित किया, राष्ट्रीय रेलवे को नुकसान पहुँचाया और फिर पकड़े जाने पर अपने को अपमानित महसूस किया।"

और, अब मैं आपको बतलाऊँ कि मेरे यह कहने का फल अच्छा नहीं हुआ। अच्छा फल इस अर्थ में नहीं हुआ कि दूसरे रोज से हमारी बातचीत बंद हो गई। हम आते-जाते एक फुटपाथ पर मिलते, पर राम-सलाम भी नहीं होता।

मेरा ख़याल तो यह है कि कानून ही आदर्शों की रक्षा नहीं कर सकते, इसके लिए तो हमें स्वयं आदर्श उपस्थित करना होगा। कानून तो कहता है कि लोग बिना टिकट यात्रा न करें। अगर पकड़े जाएँ, तो उनसे टिकट का दाम वसूला जाए, उन्हें जुर्माना किया जाए। मगर, यह भी सही है कि बिना टिकट सफर करने वाला हर मुसाफिर पकड़ा ही नहीं जाता। ऐसे बहुत लोग हैं, जो चकमा देकर निकल जाते हैं और अकेले में अपनी पीठ आप ठोंकते हैं।

ऐसे लोगों के कारण रेलवे को कितना घाटा होता है, इसका अंदाज लगाना कठिन है। मान लीजिए पूरे देश में रोज लोग

बीस हजार की संख्या में बिना टिकट यात्रा करते हैं। यह भी मानिए कि उनमें प्रत्येक व्यक्ति रेलवे को पाँच रुपए का ही घाटा देता है। इस प्रकार एक वर्ष में रेलवे को तीन करोड़, साठ लाख का घाटा हुआ—यानी हर रोज एक लाख, महीने में तीस लाख।

और, इस क्षति को हम रेलवे की क्षति नहीं, राष्ट्र की क्षति कहेंगे। और, ऐसे ही नासमझदार लोग अनेक प्रकार से राष्ट्र को क्षति पहुँचाया करते हैं। कुछ लोग सार्वजनिक उपयोग के सामानों को तोड़-फोड़ दिया करते हैं। कुछ लोग सरकार को इनकम-टैक्स, सेल्स-टैक्स, पेशा-टैक्स नहीं देना चाहते। कुछ लोग सरकार से व्यापार करने, खेती करने या लघु-उद्योग चलाने के लिए कर्ज तो ले लेते हैं, पर लौटाने की जब बारी आती है, तो समझते हैं कि उन्हें सरकार को मुफ्त पैसे देने पड़ रहे हैं। इतना ही नहीं, यदि सरकार की ओर से थोड़ी भी कड़ाई बरती जाती है तो लोग शोर करते हैं कि साहब, यह तो जनता के साथ भारी अत्याचार किया जा रहा है। यह सरकार तो एकदम रहने देने के लायक नहीं है। किसान और मजदूर संगठन वाले किसानों और मजदूरों की रैलियाँ निकालते हैं; विधान-सभा-भवन के सामने धरना देते हैं और सभा करके घोषणा करते हैं कि वे अगले चुनाव में ऐसी सरकार को बदल कर रहेंगे। किंतु वास्तव में कर्ज लेने का आनंद तो तब है कि हम जितनी खुशी से कर्ज लें, उतनी खुशी से कर्ज लौटा भी दें।

लोग इस बात पर तनिक भी ग़ौर नहीं करते कि अगर

जनता टैक्स न दे, सरकारी कर्ज को चुकता न करे, तो सरकार उन कामों को कैसे करेगी, जिनका भार सरकार ने अपने ऊपर ले रखा है।

मैं तो इन दिनों भी, जब कि हमारे देश पर युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, हमारा खर्च बढ़ गया है, देखता हूँ कि लोग इनकम-टैक्स, सेल्स-टैक्स, पेशा-टैक्स और सरकारी कर्ज चुकता करने में जी चुरा रहे हैं।

एक स्थल पर स्वेट मार्डन ने कहा है—"समझदारी से संचालित पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े भयंकर तीरों और तोपों की चतुरताहीन अग्नि वर्षा से कहीं अधिक उपयोगी और सफल होते हैं।"

बिलकुल सही तो कहा है, उस महान विचारक ने। आँखें खोलकर दस कदम चलना अच्छा है, पर आँखें बंद करके मील भर चलना उचित नहीं।

जब हमारे देश पर चीन ने आक्रमण किया और सरकार की ओर से लोगों से यह कहा गया कि बिजली कम खर्च करें, किरासन तेल कम खर्च करें और देश को राष्ट्रीय क्षति से बचाइए, तो बहुत से पढ़े-लिखे लोग भी इस चेतावनी का अर्थ नहीं समझ सके, जबकि इस चेतावनी का अर्थ स्पष्ट था। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि बिजली का जो बिल आता है, उसे हम चुकता करते हैं, किरासन तेल जितना खर्च होता है, उसे हम अपने पैसों से खरीदते हैं, इसमें भला सरकार का क्या जाता है ?

इतनी-सी बात लोगों की समझ में नहीं आती है कि बिजली से केवल मकानों को रोशनी ही नहीं मिलती—कल-कारखाने भी चलते हैं। और, यदि केवल रोशनी पाने के लिए, पंखे चलाने के लिए अधिकाधिक बिजली खर्च की जाए, तो फिर वे कारखाने कहाँ से भरपूर बिजली पाएँगे, जिनमें दिन-रात राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की सामग्रियाँ जोरों पर तैयार की जा रही हैं। यदि बिजली की कमी के कारण कारखानों में उन सामानों का उत्पादन कम हो जाए, जिन्हें निर्यात करके हम विदेशी मुद्रा प्राप्त करते हैं, तो फिर विश्व-बैंक में हमारे खाते में कुछ नहीं रह जाएगा। और, जब हमारे खाते में विदेशी मुद्रा नहीं रह पाएगी, तो फिर हम विदेशों से देश की रक्षा के लिए वायुयान, मशीनगनें, स्वचालित रायफलें और शक्तिशाली ट्रांसमीटर कैसे मँगा सकेंगे।

हमारी वर्तमान राष्ट्रीय प्रतिरक्षा की तैयारी में किरासन तेल का भी बहुत महत्त्व है। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि हमारे वीर जवान आज पहाड़ों की ऐसी ऊँचाई पर खड़े सीमा की रक्षा कर रहे हैं, जहाँ हवा बर्फ के टुकड़े लेकर बहती है। सर्दी के कारण प्याज पत्थर की तरह हो जाते हैं। चाय का गर्म प्याला होंठ तक लाते-लाते चाय जम कर बर्फ हो जाती है। भयंकर सर्दी के कारण सिपाहियों की उँगलियाँ ऐंठने लगती हैं। लगता है, उनका खून जम गया और वे आपस में ही एक दूसरे को थप्पड़ मार-मार कर अपने जमे हुए लहू को ढीला करते हैं।

ऐसी स्थिति में किरासन तेल उनका बहुत बड़ा सहायक

सिद्ध होता है। वे स्टोव से खाना पकाते हैं, स्टोव जलाकर बदन सेंकते हैं, स्टोव की लौ की गर्मी में ही अपने कपड़े सुखाते हैं। हमें यहीं पर यह सोचना है कि अगर हमलोग इधर ही अधिकाधिक किरासन तेल का उपयोग करने लगें, तो हमारे उन जवानों की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होगी, जो अपने माँ-बाप, भाई-बहन, पत्नी-बच्चे—सबों को छोड़कर पूरे राष्ट्र की रक्षा के लिए सीमा पर, ऐसे प्राणघातक वातावरण में, कंधे पर रायफलें और मशीनगनें लिए गश्त लगा रहे हैं। कौन कह सकता है कि विश्वासघाती चीन कब हमला कर दें और हमारे जवानों को सीमा की रक्षा करते हुए शहीद होना पड़े ? हमारे ये जवान यह नहीं सोचते कि वे यहाँ से लौट कर फिर अपने घर जा सकेंगे या नहीं, अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपनी बूढ़ी माँ, अपने बूढ़े बाप से मिल सकेंगे या नहीं। पर, वे इतना तो अवश्य जानते हैं कि वे जीते-जी शत्रु-सेना को भारत की भूमि पर इंच भर भी आगे नहीं बढ़ने देंगे।

मेरी समझ में, इन स्थितियों को देखते हुए अधिक बिजली खर्च करते हैं, अधिक किरासन तेल जलाते हैं, वे राष्ट्र को क्षति पहुँचाने वाले अपराधी हैं और उन्हें ऐसे अपराध नहीं ही करने चाहिए। वैसे हमारे सामने राष्ट्रीय संकट की स्थिति न भी हो, तो भी अनुभवी लोगों का कहना है कि फिजूलखर्ची की आदत बुरी आदत है।

यदि हम अपने स्वास्थ्य का दुरुपयोग करते हैं, तो कहा

जाना चाहिए कि हम अपने राष्ट्र को नुकसान पहुँचा रहे हैं; क्योंकि शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। और, जब हमारा मन ही स्वस्थ नहीं रहेगा, तब न तो हम आपदाओं में धैर्य धारण कर सकते हैं और न संतुलित होकर कोई ठोस काम ही कर सकते हैं। एक साधारण-सी बात लीजिए न। क्या हम अस्वस्थ नौजवानों को फौज में भेज सकते हैं, क्या अस्वस्थ जवान शत्रु-सेना का मुकाबला कर सकते हैं? यदि आप स्वयं अस्वस्थ हैं, तो किसी निःसहाय व्यक्ति को कैसे अपने कंधे का सहारा दे सकते हैं?

हम ऊपर कह चुके हैं कि शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। फिर जब आपका मन ही स्वस्थ नहीं रहेगा, तब आपके हृदय में स्वस्थ विचार उत्पन्न कैसे होंगे? और, तब यह स्पष्ट है कि जिस देश के नागरिकों के हृदय में स्वस्थ विचार उत्पन्न नहीं हो सकते, उस देश का नैतिक बल गिर जाएगा, उस देश के लोगों की राष्ट्रीय भावना समाप्त हो जाएगी और यदि यह देश गुलाम नहीं है, तो शीघ्र ही किसी देश का गुलाम हो जाएगा।

समय के अपव्यय को भी हम राष्ट्रीय क्षति ही मानें, तो कोई अत्युक्ति नहीं। आपने अक्सर अनेक साधारण लोगों को भी यह कहते सुना होगा—"अभी समय नहीं है, बहुत व्यस्त हूँ, फिर कभी।" या—"मैं भी इस काम को कर लेना चाहता हूँ, मगर क्या बतलाऊँ, समय का बड़ा अभाव है।" जब कि सचाई

वह है कि ऐसे लोगों के पास समय ही समय रहता है। जिस मनुष्य को काम करना है, वह काम करता जाता है, समय का रोना नहीं रोता।

मानव जीवन में समस्याओं का अभाव नहीं है। समस्याएँ आती रहती हैं, लोग अपना काम करते जाते हैं। सच पूछिए, तो कर्म स्वयं समस्या का समाधान है। और जिस प्रकार कर्म स्वयं समस्या का समाधान है, उसी प्रकार समय के अभाव का रोना-रोना, स्वयं समय का अपव्यय है।

आपने बहुत से लोगों को देखा होगा कि होटल में बैठे हैं, चाय पी रहे हैं। साथ में अनेक मित्र बैठे हैं। घंटों होटल में ही गुजर गया। बाहर निकले, तो किसी ने पूछा, "तब मेरा काम कल हो जाएगा ?"

और, तब ऐसे लोग जम्हाइयाँ लेते हुए उत्तर देते हैं, "देखिए, अगर कल समय मिल गया, तो आपका काम अवश्य हो जाएगा।"

एक रोज एक सरकारी दफ्तर की बात चल निकली। प्रसंग वश किसी ने कहा कि अमुक कार्यालय में छोटे-से काम में भी बड़ी देर होती है। तुरत बगल में बैठे एक सज्जन ने कहा, छोड़िए, वहाँ की बात छोड़िए। सभी सरकारी दफ्तरों का यही हाल है। इस कमरे से उस कमरे में फाइल के जाते-जाते तीन रोज लग जाते हैं।

इस प्रकार हमने देख लिया कि अप्रत्यक्ष रूप से जनता किस प्रकार राष्ट्र को क्षति पहुँचाती है। अब हमें इसके दूसरे पहलू को भी देखना चाहिए। इसका दूसरा पहलू है—राष्ट्रीय बचत। हमारे देश में आजकल अनेक बचत योजनाएँ चल रही हैं। पर, जिस मात्रा में लोगों को इस ओर ध्यान देना चाहिए था, लोग ध्यान नहीं देते, बल्कि वे इस बात को टाल भी देते हैं। लोग सोचते हैं कि राष्ट्रीय बचत पत्र खरीदने या सेविंग्स बैंक में रुपए जमा करने से अच्छा है कि हाथ का पैसा हाथ में रहे। कुछ लोग तो यहाँ तक कह बैठते हैं कि यदि आज भारत-चीन युद्ध जोरों से छिड़ जाए, तो सरकार सबके रुपए बैंकों में से जब्त कर लेगी। पर, वास्तव में ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। अतः हम ऐसी धारणा को असत्य धारणा न कह कर—'देश-द्रोही धारणा' ही कहेंगे। फिर लोग ऐसा क्यों नहीं सोचते कि जब हमारी स्वतंत्रता ही नहीं रहेगी, तब धन रख कर क्या होगा ?

बहुत से लोग इस बात को नहीं जानते कि एक बार जब जापान एक बहुत बड़े राष्ट्र द्वारा युद्ध में उलझा दिया गया था, तब जापान की आर्थिक स्थिति बिलकुल डाँवाडोल हो गई थी। वैसी स्थिति में अपनी सरकार के हाथ मजबूत करने के लिए वहाँ की लाखों सुंदर बालों वाली रूप गर्विताओं ने अपने सुंदर बाल कटवा कर बेचवा दिये और उनकी बिक्री से प्राप्त लाखों येनों की प्राप्ति हुई।

पर, हमारे यहाँ स्थिति दूसरी है। हम हमेशा राष्ट्रीयता की बातें करते हैं, स्वाधीनता पर मर-मिटने की चर्चा करते हैं। लेकिन, जब वास्तव में छोटे-छोटे बलिदानों की आवश्यकता पड़ती है, तब सोचने लगते हैं कि इतना बलिदान करने से आखिर लाभ कितने का होगा ? यानी हम स्वाधीनता का मूल्यांकन व्यक्तिगत लाभों से करने लगते हैं। जिस देश में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए फाँसी पड़ कर मरने वालों और गोलियाँ खाकर शहीद होने वालों की संख्या बहुत बड़ी है, उस देश के लोग यदि ऐसो धारणा रखते हैं, तो यह प्रत्येक भारतवासी के लिए लज्जा का विषय है।

राष्ट्रीय बचत का राष्ट्रीय पैमाने पर कितना गहरा लाभ है, इसे लोग समझ नहीं रहे हैं और लोगों के दिलों तक इसे पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय सरकार को लाखों रुपए विज्ञापन पर खर्च करने पड़ रहे हैं।

रेडियो के माध्यम से, लेखों के माध्यम से लोगों को बार-बार समझाया जा रहा है कि उत्पादन के लिए धन जुटाने में सहायता करने और राष्ट्र की रक्षा के बढ़ते हुए खर्च को सँभालने के लिए बाण्ड खरीद कर हमें अपनी बचत में बहुत अधिक बढ़ोत्तरी करनी चाहिए। देश की एकता और राष्ट्र-रक्षा की भावना के बल पर ही हमारे वीर जवान पहाड़ियों पर जहाँ बर्फ ही बर्फ है—हथेलियों पर जान और कंधों पर रायफल लिये सीमा की चौकसी कर रहे हैं।

लोग छोटी-सी बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि राष्ट्रीय रक्षा पत्र या अल्प बचत पत्र खरीदने में हमारा कुछ भी नुकसान नहीं है। हमें तो आम का आम और गुठली का दाम भी मिलता है। अगर हम सौ रुपए का एक रक्षा पत्र खरीदते हैं, तो बारह साल बाद हमें एक सौ पचहत्तर रुपए मिलेंगे।

सरकार ने सभी प्रकार के रेट निर्धारित कर दिये पर आम लोग विश्वास ही नहीं करते कि इसका सूद भी मिलेगा; जब कि सचाई यह है कि रक्षा पत्र के पकने पर साधारण व्याज के अनुसार सवा छह प्रतिशत प्रति वर्ष और चक्रवृद्धि व्याज के अनुसार पौने पाँच प्रतिशत प्रति वर्ष हो जाता है।

कुछ लोग तो ऐसे बचत पत्रों में रुपए लगाने से साफ इन्कार करते हैं और कुछ लोग अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहते हैं—"पैसे कहाँ हैं कि इन बचतों में लगाऊँ। यहाँ तो वेतन मिलने से पहले खर्च का हिसाब लगा रहता है।" यदि ध्यानपूर्वक ऐसे लोगों की आर्थिक गतिविधि का अध्ययन किया जाए, तो पता चलेगा कि वे फिजूलखर्ची तो कर सकते हैं, पर राष्ट्रीय बचत पत्र नहीं खरीद सकते। आइए, हम जरा इनके खर्च के शीर्षकों पर नजर डालें—

१. खुराक, २. मकान-भाड़ा, ३. कपड़े, ४. जीवन-बीमा, ५. स्कूल फीस, ६. मनोरंजन, ७. सफर, ८. दावत, ९. जेब-खर्च, १०. सैर-सपाटे, ११. तोहफे, १२. त्योहार, १३. नई खरीद, १४. सिंगार के सामान, और १५. तसवीरें।

पर यदि एक अर्थशास्त्री की दृष्टि से इसे परखा जाए, तो पता चलेगा कि इनमें शुरू के पाँच शीर्षक ठीक हैं—बाकी सब फिजूलखर्ची के सिवा और कुछ नहीं। बचत के लिए तो कुछ सोचा ही नहीं गया।

लोगों को राष्ट्रीय बचत के बारे में यह भी जानना चाहिए कि युद्ध भूमि में भी सेना को यह आदेश नहीं रहता कि फौजी जवान अंधाधुंध गोलियाँ चलावें। अंधाधुंध गोलियाँ चलाने का अर्थ यह होता है कि शत्रु-पक्ष को बिना नुकसान पहुँचाये गोली को खर्च किया गया। और, आवेश में आकर फौज की जो टुकड़ी ऐसी भूल करती है, उसे धोखा होता है। किसी रुकावट के कारण यदि पीछे से उन्हें गोलियाँ नहीं मिल पातीं, तो उस टुकड़ी के जवान गोलियों की फिजूलखर्ची पर अफसोस करते हैं और जब शत्रु-पक्ष को यह ज्ञात हो जाता है कि मुकाबला करनेवाला दिवालिया हो गया है। तब मौका देखकर वह ऐसी टुकड़ी के जवानों को हताहत कर देता है या युद्धबंदी बना लेता है।

तात्पर्य यह कि आज प्रत्येक भारतवासी को यह स्मरण रखना है कि चाहे युद्ध का मैदान हो यह शांत नगर-ग्राम—फिजूलखर्ची हर जगह नुकसानदेह है और बचत करने की नीति सर्वत्र लाभकारी है। जो व्यक्ति इस तथ्य को समझ कर चलेगा, वही वास्तव में अपनी राष्ट्रीयता का पहरुआ होगा।

● ● ●

१६. नए विचार सेतु

"स्वदेश और विदेशों में कटु आलोचना तथा दोषारोपणों के बावजूद, अभिनव भारत का शांत-संयत आत्म-विश्वास डिगा नहीं है और आज अजेय आशीर्वाद की नींव पर खड़ा यह आत्म-विश्वास हमारे विश्व-जीवन में भी समा रहा है।"

—पर्ल एस० बक

पेरिस के आर्ली हवाई अड्डे पर नेताओं की भीड़। फ्रांसिसी सरकार बड़ी सफाई और समझदारी से आगत अतिथियों का स्वागत कर रही थी। 'प्रोटोकोल' की बारीकियाँ दूरबीन से देखी जा रही थीं। फिर भी यह प्रश्न उपस्थिति था कि विभिन्न नेताओं के एक समय आ जाने पर, हवाई अड्डे की असुविधाओं को किस प्रकार टाला जाए। श्री ख्रुश्चेव तो एक दिन पहले ही आ गए और ठीक उसी समय पर जब आर्ली पर पश्चिम जर्मनी के अध्यक्ष श्री अदनायर उतरने वाले थे। अब क्या किया जाए? अधिकारियों में बड़ी दौड़-धूप मची। अंत में फ्रांसिसी राष्ट्रपति दगाल ने श्री अदनायर से निवेदन किया कि वे एक घंटा पहले या बाद में उतरें।

दूसरे दिन जब अमरीकी राष्ट्रपति आइजन हावर पधारे, तो फ्रांसिसी सरकार के सामने एक और समस्या खड़ी हो गई। उन्हें ले जाने के लिए दो कारें प्रतीक्षा में खड़ी थीं—एक थी अमरीकी दूतावास की, जिसे वाशिंगटन से यहाँ तक लाया गया था; दूसरी थी फ्रांसिसी सरकार की। फ्रेंच आतिथ्य-विभाग और प्रोटोकोल के अधिकारियों का आग्रह था कि अमरीकी राष्ट्रपति महोदय फ्रांसिसी कार में बैठें। उधर अमरीकी दूतावास सुरक्षा की दृष्टि से अपनी ही कार का उपयोग करना चाहता था।

अमरीकी राष्ट्रपति ने स्थिति को सँभाल लिया और अपने देश की सरकारी कार में न बैठ कर, वे फ्रांसिसी कार की ओर बढ़ गए और उसी में बैठकर दूतावास की ओर प्रस्थान किया और फ्रांसिसीयों के हृदय जीत लिये।

दूसरी ओर श्री ख्रुश्चेव का आगमन! जब वे आए, तो देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। श्री ख्रुश्चेव सोवियत दूतावास की कार में बैठे एलिसी पैलेस तक आए। उनका शोफर अलमस्त दशा में बैठा था—खुले कालर की कमीज पहने, पुराने भूरे सूट और हरी फेल्ट हैट से सुसज्जित। सम्भवतः रूसी नेता लोगों को, संवाददाताओं को यह जतलाना चाहते थे कि उनके यहाँ प्रधान मंत्री और शोफर के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं रखा जाता। इस मुक्त व्यवहार का एक और उदाहरण लोगों को दूसरे ही दिन मिल गया। सोवियत प्रधान मंत्री प्रातःकालीन सैर के लिए जिधर चाहते, निकल जाते थे। लोगों की भीड़ जमा

हो जाती। वे आस-पास के उपनगर और गाँवों में जाते और किसानों से बातचीत करते। खुद ही अपना परिचय देते कि सोवियत संघ से उनका एक मित्र श्रमिक आया है।

उन्होंने सोवियत दूतावास में संवाददाताओं और ट्रेड यूनियन के नेताओं का सत्कार किया। तरह-तरह के व्यंजनों और पेय पदार्थों से संध्याएँ और निशाएँ महँक उठीं।

राजकीय भवन 'पेलै द शैलेत्' की तो कुछ न पूछिए। एलिसी पैलेस के पास ४,००० संवाददाताओं की भीड़ थी।

आखिर यह सब क्या था ?

पेरिस में सन् १९६० ई० में होने वाला शिखर सम्मेलन !!

शिखर-सम्मेलन हुआ और असफल हो गया।

लाखों-करोड़ों रुपए पर पानी फिर गया। ख्रुश्चेव अपनी बात पर अड़े रहे और अमरीकी राष्ट्रपति अपनी बात पर। लगा, जैसे विचारों के आदान-प्रदान का सेतु क्षण भर में ढह गया।

उसी साल पहली मई को, अमरीकी सरकार के आदेश पर एक अमरीकी हवाबाज ने रूस की आकाशीय सीमा का उल्लंघन किया था। उसने अपने वायुमान में लगे कैमरे से मास्को के उन क्षेत्रों का चित्र लेना चाहा था, जो क्षेत्र सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे। और वह रैडार द्वारा रूस में उतार लिया गया था।

सोवियत संघ के नेता का यह कथन था कि यह जो कांड हुआ, इसके लिए अमरीकी राष्ट्रपति सम्मेलन में सबसे पहले

खेद प्रकट करें, तब आगे का काम शुरू हो और अंततः अमरीकी राष्ट्रपति खेद प्रकट नहीं कर सके।

हमें इन दोनों देशों की राजनीति अथवा दोनों नेताओं की बौद्धिक स्थिति पर विचार नहीं करना है। हम मात्र इतना ही कहना चाहते हैं कि मनमुटाव के कारण इतना महत्त्वपूर्ण शिखर सम्मेलन नहीं हो सका। बहुत संभव था कि शिखर सम्मेलन सफल होने से इन दो बड़ी शक्तियों के बहुत सारे मतभेद दूर हो जाते। और, वह तब नहीं हो सका।

और, हम चाहते हैं कि विश्व में फैले अनेक प्रकार के राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए नए विचार-सेतु बनाये जाएँ।

हमारे देश के नेता विचार-विमर्श में, भावनाओं के आदान-प्रदान में विश्वास रखते हैं। भारत की जनता को संविधान से यह अधिकार प्राप्त है कि वह राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय मामले में अपने विचार अपने नेताओं तक संप्रेषित करे। संभव है, शिखर सम्मेलन के असफल होने का एक मुख्य कारण यह भी हो कि दोनों शक्तिशाली राष्ट्रों के नेता के मस्तिष्क पर अपने-अपने देश की जनता के विचारों का पूर्वाग्रह-भार लदा हो।

हम भी अपने आग्रहों और अपनी आकांक्षाओं से अपने देश के नेताओं को सदा परिचित कराते रहते हैं। कभी-कभी तो इन्हें स्वीकार कराने के लिए अड़ जाते हैं, हड़ताल करते हैं, अनशन करते हैं, प्रदर्शन करते हैं।

ऐसी स्थिति में हमें देखना यह है कि हम अपने ही ढंग से

अपने ही मनोनुकूल, इस अधिकार की व्याख्या तो नहीं कर बैठते ? अगर कर बैठते हैं, या कर बैठेंगे, तो इसका परिणाम क्या होता है, क्या होगा ?

चीन ने हमारी प्रादेशिक भूमि की अखंडता भंग की। हमने अपने नेताओं पर दबाव डाला कि चीन पर चढ़ाई करके हम अपनी भूमि छीन लें। हमने यह भी देखा कि इस स्थिति में वर्त्तमान सरकार के मौन का सरकार-विरोधी अन्य राजनीतिक संगठनों ने लाभ उठाया, सरकार की इस मौन नीति का उपयोग चुनाव में किया। मगर, ग़लत बात ग़लत ही साबित होती है। हमने चीन पर आक्रमण नहीं किया, चीन ने हम पर आक्रमण किया, आत्मरक्षा के संघर्ष में हमारे हजारों सैनिक शहीद हो गए, मगर चीन को इससे क्या मिला ?

सत्तर से अधिक देशों का तिरस्कार !

चीन आक्रामक नीति के कारण अकेला पड़ गया। उसके बंधु देश महान सोवियत संघ तक ने उसका साथ नहीं दिया और जब अभी पिछले वर्ष जर्मनी में विश्व साम्यवादी दल का अधिवेशन हुआ, तो उस अधिवेशन में कम्युनिस्ट चीन के प्रतिनिधि का खूब अपमान किया। वह प्रतिनिधि जैसे ही कुछ बोलना चाहता, आवाजें आतीं—"आप बैठ जाइए, चुप रहिए। बेकार का बकवाद मत कीजिए।"

आपने सुना, किसी भी विश्वस्तरीय राजनैतिक अधिवेशन में आपके देश के किसी प्रतिनिधि का कभी अपमान हुआ ?

नहीं। आखिर क्यों नहीं हुआ ?

क्योंकि हमने जिद्द के पाये पर कोई भी विचार-सेतु खड़ा नहीं किया। हमारे देश के नेताओं ने कभी भी राष्ट्रीय एकता का दुरुपयोग नहीं किया। संयम और ईमानदारी की विरासत कायम रखे रहने के कारण ही हमारे देश को अनेक अंतर्राष्ट्रीय मामलों में पंच बनाया गया। कौन कह सकता था कि आज से सोलह साल पहले का गुलाम भारत विश्व-समस्याओं के हल करने में विश्व-मानव को अपना नेतृत्व प्रदान करेगा ? और, यह जो कुछ हुआ, हमारी संयमित राजनीति के कारण। और, इस प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए हमें खबरदार रहना है।

अपने संविधान में प्राप्त अधिकारों की अपने ही मनोनुकूल व्याख्या करके हम कोई ऐसा आचरण न कर बैठें, जिसके चलते विश्व के रंगमंच पर हमारा कौल भोंडा साबित हो।

यदि क्षणिक तनाव के वशीभूत होकर हम आवेशजनित स्थितियों की उपासना करते होते, तो आज जब भारत पर संकट आया, तब विश्व के इतने सारे राष्ट्र भारत के साथ न होते, इतने राष्ट्र हमारी स्वाधीनता को बचाने के लिए बेचैन नहीं हो उठते। विश्व-राजनीति में हमारी सहिष्णुता का परिचय इसी से मिल जाता है कि भारत-चीन आक्रमण के शीघ्र बाद बिना हमारे अनुरोध पर लंका की प्रधान मंत्री श्रीमती भंडारनायक ने छह देशों का एक सम्मेलन बुलाया, स्थिति सुधारने के प्रस्ताव तैयार किये और चीन तथा भारत की कटुता मिटाने की चेष्टा की। कोलंबो

प्रस्ताव की प्रति मिलने पर हमने एक और महान संयम और शांतिप्रियता का परिचय पेश किया। हमने वे सारे प्रस्ताव मान लिये। चीन की सरकार ने उन्हें नहीं माना और फिर एक बार संसार के शांतिकामी राष्ट्रों की नजरों में गिर गया।

तात्पर्य यह है कि नए विचार-सेतु का अर्थ हमें यह कदापि नहीं लगाना है कि हम अपने ही विचार उस पार भेजें और जब उस पार से कोई विचार आने लगे, तो उस पार के दरवाजे पर पूर्वाग्रह का लौह-द्वार खड़ा कर दें। इस संसार में हम अकेले नहीं हैं। हमें अपने ग़लत विचारों से और आवेशजनित ज़िद से ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न कर देनी चाहिए कि विश्व-मैत्री-भाव के विचार-रंगमंच पर हमारे देश का प्रतिनिधि बत्ती-बुझे दृश्य में केवल सीटी बजाने के सिवा कुछ और न कर सके।

● ● ●